सिंघी जैन ग्रन्थमाला

[ग्रन्थांक ३२]

संस्थापक

स्व० श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी

संरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

*

प्रधान सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिनविजय मुनि

महामात्य - वस्तुपाल - कीर्तिकीर्तनस्वरूप - काव्यद्वय

सोमेश्वरदेव - कवि - विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

अरिसिंह कवि - कृत

सुकृतसंकीर्तन

संपादनकर्ता

आगमप्रभाकर - मुनिप्रवर श्री पुण्यविजय सूरि

[प्रकाशनकर्ता]

सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई. ७

वि. सं. २०१७] 卐 [मूल्य रू. ६/६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर्गवासी साधुचरित श्रीमान् डालचन्दजी सिंघी

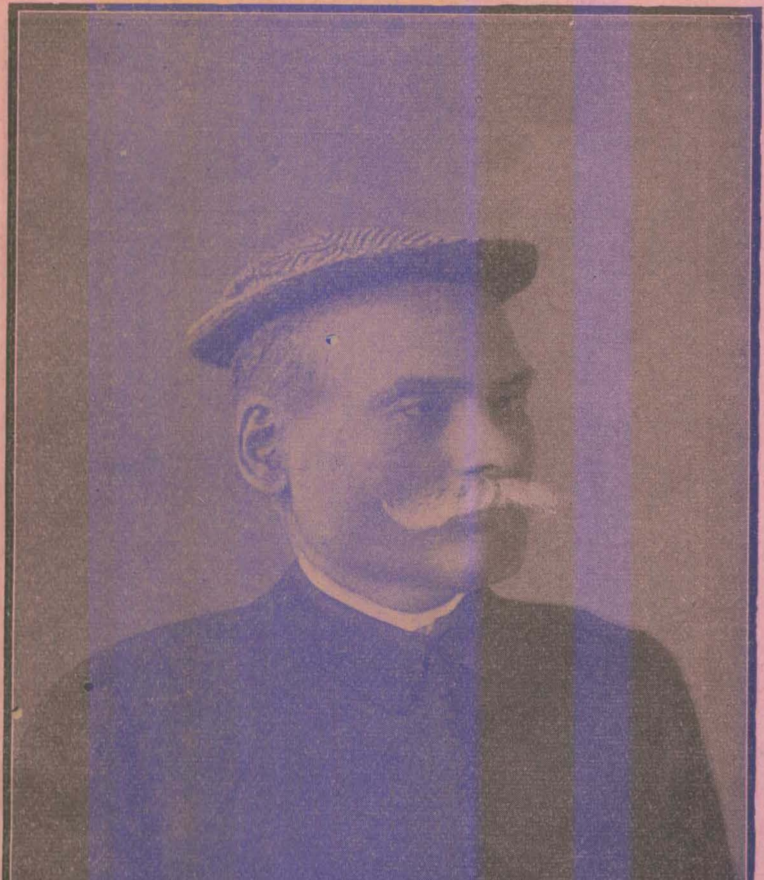

बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघीके पुण्यश्लोक पिता

जन्म-वि. सं. १९२१, मार्ग. वदि ६ 卐 स्वर्गवास-वि. सं. १९८४, पोष सुदि ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दानशील - साहित्यरसिक - संस्कृतिप्रिय

स्व० बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघी

अजीमगंज-कलकत्ता

जन्म ता. २८-६-१८८५] [मृत्यु ता. ७-७-१९४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

[ग्रन्थांक ३२]

महामात्य - वस्तुपाल - कीर्तिकीर्तनस्वरूप - काव्यद्वय

महाकवि - सोमेश्वरदेव - विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

कवि - अरिसिंह ठक्कुर - विरचित

सुकृतसंकीर्तन

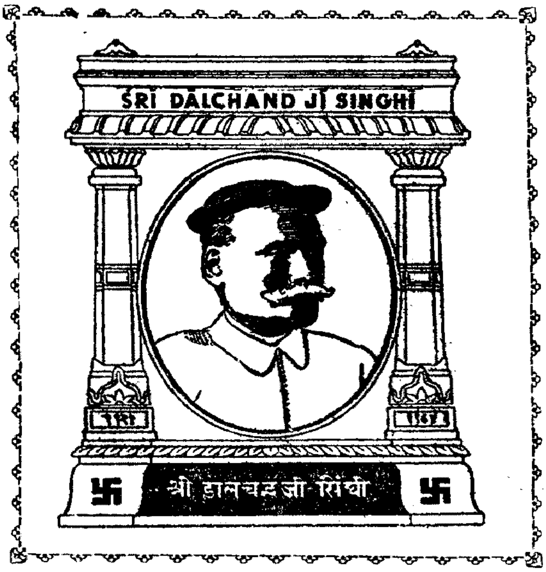

SINGHI JAIN SERIES

[NUMBER 32]

Two panegyric and historical poems describing the good deeds of the great minister Vastupal of Gujarat.

I. KĪRTIKOUMUDĪ

By Mahakavi Somes'vara Deva

2. SUKRITASAMKĪRTANA

By Kavi Arisimha Thakkura

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलकत्तानिवासी

साधुचरित-श्रेष्ठिवर्य **श्रीमद् डालचन्द्जी सिंघी** पुण्यस्मृतिनिमित्त

प्रतिष्ठापित एवं प्रकाशित

सिंघी जैन ग्रन्थमाला

[जैन आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, कथात्मक - इत्यादि विविधविषयगुम्फित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीनगूर्जर, - राजस्थानी आदि नाना भाषानिबद्ध सार्वजनीन पुरातन वाङ्मय तथा नूतन संशोधनात्मक साहित्य प्रकाशिनी सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रन्थावलि]

प्रतिष्ठाता

श्रीमद् - डालचन्दजी - सिंघीसत्पुत्र

स्व० दानशील - साहित्यरसिक - संस्कृतिप्रिय

श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी

प्रधान सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिनविजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

*

ऑनररी फाउंडर - डायरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

ऑनररी मेंबर - जर्मन ओरिएण्टल सोसाईटी, जर्मनी; भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (दक्षिण); गुजरात साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात); विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध प्रतिष्ठान, होसियारपुर (पञ्जाब) इत्यादि ।

*

संरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

व्यवस्थापक

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

प्रकाशक - ज. ह. दवे, ऑनररी डायरेक्टर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, नं. ७

मुद्रक - जयन्ती दलाल, वसन्त प्रिंटिंग प्रेस, घेलाभाईनी वाडी, घीकांटा, अहमदाबाद.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महामात्य - वस्तुपाल - कीर्तिकीर्त्तनस्वरूप - काव्यद्वय

महाकवि - सोमेश्वरदेव - विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

कवि - अरिसिंह ठक्कुर - विरचित

सुकृतसंकीर्तन

नम्र सूचन
इस ग्रन्थ के अभ्यास का कार्य पूर्ण होते ही नियत
समयावधि में शीघ्र वापस करने की कृपा करें.
जिससे अन्य वाचकगण इसका उपयोग कर सकें.

संपादनकर्ता

अनेकग्रन्थभाण्डागारोद्धारक – विविधदुर्लभ्यग्रन्थसंशोधक

जिनागमप्रकाशकारि - प्रतिष्ठानप्रवर्तक

आगमप्रभाकर - मुनिप्रवर श्री पुण्यविजय सूरि ।

प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्याभवन, बम्बई

विक्रमाब्द २०१७] प्रथमावृत्ति [खिस्ताब्द १९६१

ग्रन्थांक ३२] सर्वाधिकार सुरक्षित [मूल्य रु० ६/६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

SINGHI JAIN SERIES

अद्यावधि मुद्रितग्रन्थ नामावलि

१ मेरुतुङ्गाचार्यरचित **प्रबन्धचिन्तामणि** मूल संस्कृत ग्रन्थ.
२ **पुरातनप्रबन्धसंग्रह** बहुविध ऐतिह्यतथ्यपरिपूर्ण अनेक प्राचीन निबन्ध संचय.
३ राजशेखरसूरिरचित **प्रबन्धकोश.**
४ जिनप्रभसूरिकृत **विविधतीर्थकल्प.**
५ मेघविजयोपाध्यायकृत **देवानन्दमहाकाव्य.**
६ यशोविजयोपाध्यायकृत **जैनतर्कभाषा.**
७ हेमचन्द्राचार्यकृत **प्रमाणमीमांसा.**
८ भट्टाकलङ्कदेवकृत **अकलङ्कग्रन्थत्रयी.**
९ **प्रबन्धचिन्तामणि** – हिन्दी भाषांतर.
१० प्रभाचन्द्रसूरिरचित **प्रभावकचरित.**
११ सिद्धिचन्द्रोपाध्यायरचित **भानुचन्द्रगणिचरित.**
१२ यशोविजयोपाध्यायविरचित **ज्ञानबिन्दुप्रकरण.**
१३ हरिषेणाचार्यकृत **बृहत्कथाकोश.**
१४ **जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग.**
१५ हरिभद्रसूरिविरचित **धूर्ताख्यान.** (प्राकृत)
१६ दुर्गदेवकृत **रिष्टसमुच्चय.** (प्राकृत)
१७ मेघविजयोपाध्यायकृत **दिग्विजयमहाकाव्य.**
१८ कवि अब्दुल रहमानकृत **सन्देशरासक.** (अपभ्रंश)
१९ भर्तृहरिकृत **शतकत्रयादि सुभाषितसंग्रह.**
२० शान्त्याचार्यकृत **न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति.**
२१ कवि धाहिलरचित **पउमसिरीचरिउ.** (अप०)
२२ महेश्वरसूरिकृत **नाणपंचमीकहा.** (प्रा०)
२३ श्रीभद्रबाहुआचार्यकृत **भद्रबाहुसंहिता.**
२४ जिनेश्वरसूरिकृत **कथाकोषप्रकरण.** (प्रा०)
२५ उदयप्रभसूरिकृत **धर्माभ्युदयमहाकाव्य.**
२६ जयसिंहसूरिकृत **धर्मोपदेशमाला.** (प्रा०)
२७ कोऊहलविरचित **लीलावई कहा.** (प्रा०)
२८ **जिनदत्ताख्यानद्वय.** (प्रा०)
२९.३०.३१ स्वयंभूविरचित **पउमचरिउ.** भाग १. २. ३ (अप०)
३२ सिद्धिचन्द्रकृत **काव्यप्रकाशखण्डन.**
३३ दामोदरपण्डितकृत **उक्तिव्यक्तिप्रकरण.**
३४ भिन्नभिन्न विद्वत्कृत **कुमारपालचरित्रसंग्रह.**
३५ जिनपालोपाध्यायरचित **खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि**
३६ उद्द्योतनसूरिकृत **कुवलयमाला कहा.** (प्रा०)
३७ गुणपालमुनिरचित **जंबुचरियं.** (प्रा०)
३८ पूर्वाचार्यविरचित **जयपायड-निमित्तशास्त्र.** (प्रा०)
३९ भोजनृपतिरचित **शृङ्गारमञ्जरी.** (संस्कृत कथा)
४० धनसारगणीकृत–**भर्तृहरिशतकत्रयटीका.**
४१ कौटल्यकृत **अर्थशास्त्र - सटीक.** (कतिपयअंश)
४२ **विज्ञप्तिलेखसंग्रह** विज्ञप्तिमहालेख - विज्ञप्तित्रिवेणी आदि अनेक विज्ञप्तिलेख समुच्चय.
४३ महेन्द्रसूरिकृत **नर्मदासुन्दरीकथा.** (प्रा०)
४४ हेमचन्द्राचार्यकृत–**छन्दोऽनुशासन.**
४५ वस्तुपालगुणवर्णनात्मक **काव्यद्वय** **कीर्तिकौमुदी** तथा **सुकृतसंकीर्तन**
४६ सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी आदि वस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह.
४७ जयसोमविरचित **मंत्रीकर्मचन्द्रवंशप्रबन्ध.**

Shri Bahadur Singh Singhi Memoirs

Dr. G. H. Bühler's Life of Hemachandrāchārya.

Translated from German by Dr. Manilal Patel, Ph. D.

1 **स्व. बाबू श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ** [भारतीयविद्या भाग ३] सन १९४५.
2 Late Babu Shri Bahadur Singhji Singhi Memorial Volume BHARATIYA VIDYA [Volume V] A. D. 1945.
3 Literary Circle of Mahāmātya Vastupāla and its Contribution to Sanskrit Literature. By Dr. Bhogilal J. Sandesara, M. A., Ph. D. (S.J.S.33.)
4–5 Studies in Indian Literary History. Two Volumes. By Prof. P. K. Gode, M. A. (S. J. S. No. 37–38.)

संप्रति मुद्र्यमाणग्रन्थनामावलि

१ **विविधगच्छीय पट्टावलिसंग्रह.**
२ **जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, भाग २.**
३ गुणप्रभाचार्यकृत **विनयसूत्र.** (बौद्धशास्त्र)
४ रामचन्द्रकविरचित-**मल्लिकामकरन्दादिनाटकसंग्रह.**
५ तरुणप्रभाचार्यकृत **षडावश्यकबालावबोधवृत्ति.**
६ प्रद्युम्नसूरिकृत **मूलशुद्धिप्रकरण-सटीक.**
७ **कुवलयमाला कथा, भाग २**
८ सिंहतिलकसूरिरचित **मन्त्रराजरहस्य.**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम ।

प्रासङ्गिक – वक्तव्य

गूर्जरेश्वरपुरोहित महाकवि श्रीसोमेश्वरदेवविरचित कीर्ति-
कौमुदीमहाकाव्य : पृ० १ - ४२

(१) नगरवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः । १–६
(२) नरेद्रवंशवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः । १–१२
(३) मन्त्रिप्रतिष्ठा नाम तृतीयः सर्गः । १३–१६
(४) दूतसमागमनो नाम चतुर्थः सर्गः । १७–२२
(५) युद्धवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः । २३–२५
(६) पुरप्रमोदवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः । २६–२९
(७) चन्द्रोदयवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः । ३०–३३
(८) परमार्थविचारो नाम अष्टमः सर्गः । ३४–३६
(९) यात्रासमागमनो नाम नवमः सर्गः । ३७–४२

प्रथम परिशिष्ट पृ० ४३–८८

(1) Kathavate's Introduction to the first edition of Kirtikaumudi 43–59
(2) Professor G. Bühler's critical study of the Sukritasamkirtana of Arisimha 60–82
(3) Introduction of the Sukritasamkirtana text of late Muniraj Shri Chaturvijayaji Maharaj 83–88

कीर्तिकौमुदी - सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्यगत-विशिष्टनामानुक्रम । ८९–९२

द्वितीय परिशिष्ट –

महाकवि - अरिसिंहविरचित सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्य । पृ० ९५–१३६

(१) चापोत्कटान्वयवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः । ९६–९९
(२) चौलुक्यान्वयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः । ९९–१०४
(३) मन्त्रिप्रकाशो नाम तृतीयः सर्गः । १०४–१०७
(४) धर्मोपदेशनो नाम चतुर्थः सर्गः । १०७–११०
(५) सङ्घप्रस्थानो नाम पञ्चमः सर्गः । १११–११४
(६) सूर्योदयवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः । ११५–११७
(७) शत्रुञ्जयदर्शनो नाम सप्तमः सर्गः । ११८–१२१
(९) षड्ऋतुवर्णनो नाम नवमः सर्गः । १२५–१२९
(१०) पुरप्रवेशो नाम दशमः सर्गः । १२९–१३३
(११) [illegible]कीर्तनकीर्त्तनो नामैकादशः सर्गः । १३३–१३६

कीर्तिकौमुदीमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः । १३७–१४७
सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः । १४८–१५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रासंगिक वक्तव्य

*

गूर्जर महामात्य वस्तुपालकी कीर्तिको काव्यबद्ध करनेका जिन कवियोंने प्रयत्न किया है उनमें राजपुरोहित कवि सोमेश्वर और ठक्कुर अरिसिंह मुख्य हैं। कवि सोमेश्वरने कीर्तिकौमुदी नामक काव्य रच कर और अरिसिंहने सुकृतसंकीर्तन काव्य बना कर, वस्तुपालकी यशःकीर्तिको युगान्त तक स्थिर रखनेका सत्प्रयत्न किया है।

कीर्तिकौमुदी काव्यका कर्ता कवि सोमेश्वर सुप्रसिद्ध व्यक्ति है। वह वस्तुपालका अनन्य मित्र और राजपुरोहित था। वस्तुपालके गुणोंका वह बहुत अनुरागी और प्रशंसक था। वस्तुपालकी युद्धवीरता और दानवीरता का वह प्रत्यक्ष साक्षी था, इसलिये उसके काव्यकी गुणवत्ताका महत्त्व बहुत है। कविता की दृष्टिसे भी यह काव्य बहुत उच्च कोटिका है।

इस काव्यका, बहुत पहले (सन् १८८३ में) अहमदाबादके गुजरात कालेजके संस्कृतके प्रोफेसर ए. वी. काथवटे नामक विद्वान्‌ने संपादन कर 'बॉम्बे संस्कृत सीरीझ' नामक ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशन किया था। प्रो. काथवटेने इसकी भूमिका रूपसे एक बहुत विस्तृत इंग्रेजी प्रस्तावना लिखी, जिसमें काव्यगत बातोंका विस्तृत ऊहापोह किया है। प्रो. काथवटे संपादित यह पुस्तक अब अलभ्य है। इसलिये इसका पुनर्मुद्रण करनेकी दृष्टिसे प्रस्तुत प्रकाशन किया गया है। मूल ग्रन्थके संशोधनमें कुछ अन्य प्राचीन हस्तलिखित पोथियां भी और मिल आईं, इसलिये इसका यह प्रकाशन अधिक शुद्ध हो गया है।

इसके साथ, कवि अरिसिंह विरचित सुकृतसंकीर्तन काव्य भी सम्मिलित कर दिया है। क्यों कि ये दोनों काव्य, वर्णन और वस्तुकी दृष्टिसे, परस्पर बहुत कुछ साम्य रखते हैं।

'सुकृतसंकीर्तन' काव्यकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति, जब स्व० जर्मन महाविद्वान् डॉ. ब्युहलरको मिली तो वे इसको देख कर बहुत आकृष्ट हुए और इस पर उन्होंने जर्मन भाषाके एक सुप्रसिद्ध साहित्यिक जर्नल में, बहुत बडा निबन्ध लिख कर प्रकट किया। उस निबन्ध के महत्त्वको देख कर, इ. एच्. बर्जेस नामक इंग्रेज विद्वान् ने, उसका इंग्रेजी अनुवाद कर, इन्डियन एन्टीकेरी नामक सुप्रसिद्ध पत्रिकामें प्रकट किया। पर मूल संस्कृत काव्य कहीं प्रकट नहीं हुआ था। इसलिये स्वर्गवासी मुनिवर श्री चतुरविजयजी महाराजने, इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त कर, भावनगर की जैन आत्मानन्द सभा द्वारा प्रकाशित होने वाली 'आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला' के एक ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित किया। यह प्रकाशन भी अब अप्राप्य है, अतः इसका पुनर्मुद्रण भी इसके साथ कर देनेका हमारा विचार हुआ। इस प्रकार इसका पुनः प्रकाशन करनेकी हमारी इच्छाका मुनिवर्य्य श्री पुण्यविजयजी महाराजने सहर्ष स्वीकार कर, अपने स्वर्गीय गुरुमहाराजके संपादनको सुप्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार 'कीर्ति कौमुदी' और 'सुकृत संकीर्तन' इन दोनों काव्योंका संयुक्त प्रकाशन कर देना जब निश्चित हुआ, तो हमारे मनमें इन दोनों काव्योंके परिचयस्वरूप जो उक्त दो इंग्रेजी निबन्ध लिखे गये हैं, उनको भी इसमें सम्मिलित करना अधिक उपयुक्त लगा। क्यों कि वे दोनों निबन्ध अब अप्राप्य हैं; और उन निबन्धोंके विद्वान् लेखकों द्वारा जिस परिश्रम और जिस अध्ययनके फल स्वरूप वे प्रौढ निबन्ध लिखे गये हैं, सर्वथा संरक्षणीय और सदैव पठनीय हैं। अतः हमने उन दोनों विशिष्ट निबन्धोंको भी यथावत् इस प्रकाशनमें मुद्रित कर दिये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्व० मुनिवर्य्य श्री चतुरविजयजी महाराज द्वारा संपादित और प्रकाशित 'सुकृत संकीर्तन' काव्यके प्रास्ताविक रूपमें, स्व० विद्वान् चिमनलाल डा. दलाल (गायकवाडस् ओरिएन्टल सीरीझ, बडौदा, के मूल प्रतिष्ठापक)ने, ग्रन्थपरिचयात्मक छोटासा इंग्रेजी वक्तव्य लिखा था, उसको भी हमने इसके साथ संकलित कर देना उचित समझ कर, वैसा किया है। इस वक्तव्यमें वस्तुपालके कीर्तिकलापोंका वर्णन करने वाली समसामयिक जितनी रचनाएं, उपलब्ध हैं, उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

महामात्य वस्तुपालके जीवन और कार्योंसे संबद्ध जितनी समकालीन साहित्यिक कृतियों उपलब्ध होती हैं उनका संक्षिप्त परिचय, हमने इस ग्रन्थमालाके ४ थे ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित 'धर्माभ्युदय महाकाव्य'के किंचित् प्रास्ताविकमें लिखा है। उससे संबद्ध 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी' आदि वस्तुपालकी प्रशस्त्यात्मक रचनाओंका तथा उसके बनाये हुए मन्दिरों और मूर्तिओंके जितने शिलालेख अभी तक ज्ञात हुए हैं उन सबका भी, एक संग्रह ग्रन्थ, इसी ग्रन्थमालाके ५ वें ग्रन्थके रूपमें प्रकट किया गया है।

पहले, प्रस्तुत काव्य-द्वय भी उसी संग्रहके अन्तर्गत संकलित रूपमें प्रकट कर देनेका विचार रहा और तदनुसार इसका मुद्रण कार्य भी कराया गया। परंतु पीछेसे प्रो. काथवटे लिखित 'कीर्तिकौमुदी' की इंग्रेजी प्रस्तावना और डॉ. ब्युहलर लिखित 'सुकृत संकीर्तन' काव्यका विशिष्ट परिचायक बहुमूल्य निबन्धका इंग्रेजी अनुवाद भी, इसमें संकलित कर देनेके विचारसे, प्रस्तुत ग्रन्थ को, अब ग्रन्थमालाके ३२ वें ग्रन्थके रूपमें, पृथक् प्रकट किया जा रहा है।

'धर्माभ्युदय महाकाव्य' 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी आदि वस्तुपाल-प्रशस्तिसंग्रह' तथा प्रस्तुत 'कीर्तिकौमुदी तथा सुकृतसंकीर्तन काव्य द्वय'–इन तीनों ग्रन्थोंका संपादन कार्य विद्वद्रत्न मुनिमहोदय श्री पुण्यविजयजी महाराजने किया है और इसके लिये हम इनके प्रति, अपना पुनः पुनः सादर कृतज्ञभाव प्रकट करना कर्तव्य समझते है।

महावीर जन्मदिन, चैत्र शुक्ला १३, सं. २०१७
ता. ३० मार्च, १९६१, भारतीयविद्याभवन, बंबई

–मुनि जिनविजय

–आभार प्रदर्शन–

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जो द्रव्य व्यय हुआ है उसका अर्द्ध भाग भारत सरकारने देनेकी उदारता प्रकट की है, अतः इसके लिये हम भारत सरकारके प्रति अपना सादर आभार प्रकट करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गूर्जरेश्वरपुरोहित-

महाकविश्रीसोमेश्वरदेवविरचितं

कीर्तिकौमुदीमहाकाव्यम् ।

(महामात्यश्रीवस्तुपालचरितात्मकम्)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमः सर्गः ।

॥ नमः सर्वज्ञाय ॥

मङ्गलाचरणम्

श्रिये सन्तु सतामेते, चिरं **चातुर्भुजा** भुजाः । यामिका इव धर्मस्य, चत्वारः स्फुरदायुधाः ॥ १

कुर्वन् गिरिभुवि क्रीडां, दृष्टोन्नतपयोधरः । उल्लसच्चन्द्रकः प्रीतिं, **नीलकण्ठः** करोतु वः ॥ २

जटा-सीमन्तकान्तं वः, श्रियेऽस्तु **शिव**योर्वपुः । तातेत्यम्बेति वांऽऽहूतं, **गुहेन** प्रतिवक्ति यत् ॥ ३

भूयान्मुदे तदेकं वः, **शिव-केशव**योर्वपुः । करोति प्रणतिं यस्य, भीतः प्रीतश्च मन्मथः ॥ ४

सारस्वतमयं वन्दे, तमोपहमहं महः । अपि सूक्ष्मपदार्थानां, साक्षात्कारं करोति यत् ॥ ५

सरस्वतीं सदा वन्दे, यदुपास्तिसमुच्छ्रिताः । काव्यानि कुसुमानीव, सुवते कविपादपाः ॥ ६

कविवर्णना

वन्द्यास्ते कवयो येषां, सूक्तिसौरभवासिता । कृतत्रिजगदाह्लादं, कीर्तिर्भ्रमति भूभुजाम् ॥ ७

जयन्ति कवयः केऽपि, सूक्तैर्मन्त्रैरिव द्रुतम् । तांस्तांश्चिद्रूपचित्तेषु, रसानावेशयन्ति ये ॥ ८

मधुना लसदुत्कर्षां, कविषट्पदपद्मिनीम् । **रामायणकवे**स्तस्य, हृद्यां वन्दे सरस्वतीम् ॥ ९

स्तुमस्तमेव **वाल्मीकिं**, यत्प्रसादात् प्रशस्यते । लौकैर्**दाशरथं वृत्त**मपि श्रवणदुःखकृत् ॥ १०

स नमस्यः कथं न स्यात्, सतां **सत्यवतीसुतः**? । सुपर्वोपचितं चक्रे, यः स्वर्गमिव **भारतम्** ॥ ११

कालिदासः कविर्जातः, श्री**रामचरित**स्य यत् । स एष शर्करायोगः, पयसः समपद्यत ॥ १२

विरक्तश्चेद् दुरुक्तिभ्यो, निर्वृतिं वाऽथ वाञ्छसि । वयस्य ! कथ्यते तथ्यं, **माघ**सेवां कुरुष्व तत् ॥ १३

जैनिताऽर्जुनतेजस्कं तमीश्वरमुपाश्रिता । राकेव **भारवे**र्भाति, कृतिः कुवलयप्रिया ॥ १४

युक्तं **कादम्बरीं** श्रुत्वा, कवयो मौनमाश्रिताः । **बाण**ध्वनावनध्यायो, भवतीति स्मृतिर्यतः ॥ १५

वचनं **धनपाल**स्य, चन्दनं मलयस्य च । सरसं हृदि विन्यस्य, कोऽभून्नाम न निर्वृतः ? ॥ १६

---

१ "गम्यस्याप्ये" (सिद्धहेमसूत्र २-२-६२) इति सूत्रेण चतुर्थी, श्रियं कर्तुं सन्तु इत्यर्थः इति **टिप्पणी वा०** पुस्तके ॥ २ पार्वत्याम्, पक्षे पर्वतभूमौ **वा० टि०** ॥ ३ स्तना मेघाश्च **वा० टि०** ॥ ४ उल्लसन् चन्द्रो यस्य "शेषाद्वा" (सिद्धहेम ७-३-१७५) इति बहुव्रीहौ कच्, पक्षे चन्द्रकाः चांदला इति रूढाः **वा० टि०** ॥ ५ इश्वरो मयूरश्च **वा० टि०** ॥ ६ **चाऽऽहू**° प्र० वासं० ॥ ७ °**तमहं व**° प्र० । °**तमयं व**° इति स्थाने °**तमिदं व**° इति संशोधितः पाठः वा० ॥ ८ °**पास्ति स**° मु० ॥ ९ स्थापनामन्त्रैः **वा० टि०** ॥ १० स्थापयन्ति **वा० टि०** ॥ ११ पक्षे सरवणो यो दशरथेन हतः **वा० टिप्पणी** ॥ १२ कृष्णद्वीपायनव्यासः **वा० टि०** ॥ १३ देवाः, पक्षे शोभना अधिकाराः **वा० टि०** ॥ १४ जनितम् अर्जुनस्य-पार्थस्य बलं येन तम्, अर्थाद् युधिष्ठिरम्, पक्षे अर्जुनं-निर्मलम् **वा० टि०** ॥ १५ तमीश्वरं-चन्द्रम् **वा० टि०** ॥ १६ बाणः कवीश्वरः शराश्च **वा० टि०** ॥ १७ अणोज्झउ **वा० टि०** ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिल्हणस्य कवेः प्राप्तप्रसादैव सरस्वती । नीयते जातु कालुष्यं, दुर्जनैर्न घनैरपि ॥ १७
सदा हृदि वहेम श्री**हेमसूरेः** सरस्वतीम् । सुवत्या शब्दरत्नानि, ताम्रपर्णी जिता यया ॥ १८
स्तुमः सुमनसां श्रेष्ठं, **नीलकण्ठ**महर्निशम् । **दर्पकोपचितं** यस्य, सर्वज्ञस्यं न मानसम् ॥ १९
श्री**प्रह्लादनदेवो**ऽभूद्, द्वितयेन प्रसिद्धिमान् । पुत्रत्वेन सरस्वत्याः, पतित्वेन जयश्रियः ॥ २०
श्री**भोज-मुञ्ज**दुःखार्ता, रम्यां वर्तयता कथाम् । **प्रह्लादनेन** साह्लादा, पुनश्चक्रे सरस्वती ॥ २१
कवीन्द्रश्च मुनीन्द्रश्च, **नरचन्द्रो** जयत्ययम् । प्रशस्तिर्यस्य काव्येषु, सङ्क्रान्ता हृदयादिव ॥ २२
मुने**र्विजयसेनस्य**, सुधामधुरया गिरा । भारतीमञ्जुमञ्जीरस्वरोऽपि परुषीकृतः ॥ २३
सुभटेन पदन्यासः, स कोऽपि समितौ कृतः । येनाधुनाऽपि धीराणां, रोमाञ्चो नापचीयते ॥ २४
स्ववाक्पाकेन यो वाचां, पाकं शास्त्यपरान् कवीन् । स्वयं **हरिहरः** सोऽभूत्, कवीनां पाकशासनः ॥ २५
न **माघः** श्लाघ्यते कैश्चिन्ना**ऽभिनन्दो**ऽभिनन्द्यते । निष्कलः **कालिदासो**ऽपि, **यशोवीरस्य** सन्निधौ ॥ २६
प्रकाश्यते सदा साक्षाद्, **यशोवीरेण** मन्त्रिणा । मुखे दन्तद्युता ब्राह्मी, करे श्रीः स्वर्णमुद्रया ॥ २७
अर्जितास्ते गुणास्तेन, **चौहमानेन्द्रमन्त्रिणा** । विधेरब्धेश्च नन्दिन्यौ, यैरनेन नियन्त्रिते ॥ २८
वस्तुपाल-यशोवीरौ, सत्यं वाग्देवतासुतौ । एको दानस्वभावोऽभूदुभयोरन्यथा कथम् ? ॥ २९

सज्जन-दुर्जनवर्णना

हृदा यादःपरित्यक्ता, निर्व्याला मलयद्रुमाः । अमालिन्यकृतो दीपाः, श्रीपात्रं सन्तु साधवः ॥ ३०
साधूनां लुब्धता काचिदचिन्त्यैव तथाहि ये । परेषामेव गृह्णन्ति, गुणान् भूरिगुणा अपि ॥ ३१
रमयन्ति न कं नाम, सन्तश्छायाद्रुमा इव । पुष्यन्ति स्मितपुष्पं ये, सूचितोच्चैःफलोदयम् ॥ ३२
अमृतैर्मानसं मन्ये, सपूर्णं सततं सताम् । स्यन्देनेव तदीयेन, वाचो मुञ्चन्ति नाऽऽर्द्रताम् ॥ ३३

अश्रुप्रवर्तकैर्धूमैरिव किं तैरसाधुभिः ? । रसवत्यां कवेरुक्तौ, मालिन्यं जनयन्ति ये ॥ ३४
वृश्चिकानां भुजङ्गानां दुर्जनानां च वेधसा । विभज्य नियतं न्यस्तं, विषं पुच्छे मुखे हृदि ॥ ३५
अस्मिन् कलौ खलोत्सृष्टदुष्टवाग्बाणदारुणे । कथं जीवेज्जगन्न स्युः, सन्नाहाः सज्जना यदि ? ॥ ३६
निदानं नात्र पश्यामि, यदुपेत्यापि दुर्जनाः । आक्रोशन्ति भृशं साधूनध्वगानिव कुर्कुराः ॥ ३७
दोषज्ञैस्तेन रंजैव, सह साधनरा सभा । त्याज्याऽवकरभूमीव, सहसा घनरासभा ॥ ३८
दुर्जनैस्तर्ज्यमानस्य, साधोरधिकमेधते । भस्मभिर्मृज्यमानस्य, मुकुरस्येव चारुता ॥ ३९

आस्तां तावत् कृतक्रोधः, सप्रमोदोऽपि दुर्जनः । कष्टाय जायते दृष्टो, रतैवानिव वायसः ॥ ४०
दुर्जनानां द्विजिह्वत्वख्यातिरेषा मृषैव यत् । विश्वोपतापिनां तेषामुचिता सप्तजिह्वता ॥ ४१
अस्मिन्नसमयारण्ये, खलवेतालसङ्कुले । चरतः सज्जनालापाः, शिखाबन्धीभवन्तु मे ॥ ४२

---

१ कविम्, पक्षे ईश्वरम् **वा० टि०** ॥ २ °**यसिंहस्य** मु० ॥ ३ मितौ–प्रमाणग्रन्थे स स कोऽपि पदन्यासः कृतः । पक्षे समितौ सङ्ग्रामे **वा० टि०** ॥ ४ विदुषां वीराणां च **वा० टि०** ॥ ५ कवीन् जलपक्षिणः हंसान् **वा० टि०** ॥ ६ इन्द्रः **वा० टि०** ॥ ७ °**न्दोऽपि नन्द्य**° वा० ॥ ८ **सत्तां सा**° प्र० वा० ॥ ९ ३१ (तृतीयैकवचनम् इत्यर्थः) **वा० टि०** ॥ १० औदार्यादयः, पक्षे रज्जवः **वा० टि०** ॥ ११ चहूआण **वा० टि०** ॥ १२ **हृदापद्वः** मु० ॥ १३ **पुष्पन्ति** वा० । **पुष्यन्ति** मु० ॥ १४ **रात्रैव** प्र० वा० ॥ १५ °**तमानि**° प्र० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोऽस्ति कश्चन यो दृष्टोऽप्यशुद्धानां विशुद्धये । तेऽपि तिष्ठन्ति ये दृष्टाः, शुद्धानामप्यशुद्धये ॥ ४३

कवेः वस्तुपालचरित्रवर्णनप्रतिज्ञा

कुलमुज्ज्वलमाकारं, चारुमाचारमुत्तमम् । दानं सम्मानसम्पन्नमुन्नतिं नमिताहिताम् ॥ ४४

प्रज्ञामाङ्गिरसावज्ञां, दयां भग्नभयोदयाम् । श्लोकं भूषितभूर्लोकं, मन्त्रितां न्याययन्त्रिताम् ॥ ४५

विलोक्य **वस्तुपाल**स्य, भक्तिं चात्मनि निर्भराम् । श्री**सोमेश्वरदेवे**न, तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

त्रिभिः कुलकम् ॥ ४६

मन्त्रीशगुणमाणिक्यश्रेणिलाभमहोत्सवे । श्री**सोमेश्वरदेव**स्य, गातुमुत्ताम्यतीव गीः ॥ ४७

अणहिल्लपत्तननगरवर्णनम्

अस्ति हस्तिमदक्लेदविराजद्गोपुरं पुरम् । **अणहिल्लपुरं** नाम, धाम श्रेयःश्रियामिह ॥ ४८

कृतहारानुकारेण, प्राकारेण चकास्ति यत् । सुकृतेन वृतीभूय, त्रायमाणं कलेरिव ॥ ४९

अनेकानोकहच्छन्ना, प्रत्यासन्ना वनावलिः । यत्रोन्नतस्य वप्रस्य, च्छायेव प्रतिभासते ॥ ५०

चन्द्रशालासु बालानां, खेलन्तीनां निशामुखे । यत्र वक्त्रश्रिया भाति, शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥ ५१

कुत्रापि श्रुतिनिर्घोषैः, क्वचिन्मङ्गलगीतिभिः । बन्दिकोलाहलैः क्वापि, यत् सदा मुखरं पुरम् ॥ ५२

धौतेव सुधया यत्र, तुषारेणेव भूषिता । रचिता रजतेनेव, राजते सौधपद्धतिः ॥ ५३

दत्तचित्तप्रसादेषु, प्रासादेषु सदा वसन् । यत्र शम्भुर्न कैलासविलासमभिलष्यति ॥ ५४

यस्मिन् होमानलोद्भूतधूमधोरणिरुद्धती । विभाति भानुकन्येव, स्वर्गङ्गासङ्गमोन्मुखी ॥ ५५

यत्र सौधांशुविध्वस्तसमस्ततिमिरे पुरे । न स्वैरिणीसपक्षस्य, पक्षस्य भवति क्षणः ॥ ५६

लङ्का शङ्कावती **चम्पा,** साकम्पा **विदिशा** कृशा । **काशि**र्नाशितसम्पत्ति**र्मिथिला** शिथिलादरा ॥ ५७

त्रिपुरी विपरीतश्री**र्मथुरा** मन्थराकृतिः । **धारा**ऽप्यभून्निराधारा, यत्र जैत्रगुणे सति ॥ युग्मम् ॥ ५८

पुरान्तराणि निर्जित्य, जेतुं पौरन्दरं पुरम् । पत्रालम्बं करोतीव, यत् प्रासादध्वजांशुकैः ॥ ५९

यमुनेव मधूपघ्नं, साकेतं सरयूरिव । गजाह्वयं च गङ्गेव, सेवते यत् सरस्वती ॥ ६०

भान्ति देवालया यस्मिन्, **हिमालय**समश्रियः । भूतलं व्याप्य भूपानां, कीर्तिकूटा इवोद्गताः ॥ ६१

जातशैत्यश्चलच्चैत्यपताकापवनैः क्षणम् । अरुणस्तरुणेनापि, यत्र पूष्णा न पीड्यते ॥ ६२

यत्र नारीमनश्चौरान्, पौरान् सौराज्यराजिते । निगृह्णन्निषुभिः पौष्पैर्द्वैराज्यं कुरुते स्मरः ॥ ६३

कौरवेश्वरसैन्यस्य, यत्पौरस्त्रीजनस्य च । वल्गद्गाङ्गेय-कर्णस्य, न पश्याम्यहमन्तरम् ॥ ६४

यस्य राजपथे पांसुः, सिक्तः कुम्भिमदाम्बुभिः । ऊर्ध्वमभ्युद्धतोऽप्येति, न रङ्गद्भिस्तुरङ्गमैः ॥ ६५

गृहीतभूरिदण्डानां, विडम्बितमहीभुजाम् । यत्रत्यानां नरेन्द्राणां, प्रासादानां च नान्तरम् ॥ ६६

---

१ अङ्गिरसस्य बृहस्पतेरवज्ञा यस्याः ताम् **वा० टि०** ॥ २ **निगद्यते** वा० ॥ ३ प्रतोल्यः **वा० टि०** ॥ ४ °**व रूषि**°-प्र० ॥ ५ °**जतेनेव** मु० ॥ ६ °**द्धता** मु० ॥ ७ सहायस्य **वा० टि०** ॥ ८ **सकम्पा** मु० ॥ ९ **विदशा** प्र० । **विशदा कृ**° वा० ॥ १० मथुरानगरी **वा० टि०** ॥ ११ कोशलानगरी **वा० टि०** ॥ १२ सरयूर्नाम नदी **वा० टि०** ॥ १३ **भूतानां** प्र० मु० ॥ १४ **चलद्गा**° प्र० ॥ १५ **भ्युद्धता** मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाति यत्र कपोलान्तःसङ्क्रान्तेन्दुर्वधूजनः । राजमुद्राङ्कितः कोशः, कन्दर्पनृपतेरिव ॥ ६७

यत्र यत्र प्रसर्पन्ति, सलीलं यन्मृगीदृशः । दासीव दृष्टिरन्वेति, तत्र तत्र विलासिनाम् ॥ ६८

वीक्षिता वलितग्रीवं, तन्वीभिर्यत्र केऽपि[1] ये । मन्ये व्यावर्तिताङ्गेन, तेऽनङ्गेनापि[2] ताडिताः ॥ ६९

रूपेणाप्रतिमाः कान्ता, यत्र धात्रा कृताः किल । तथापि प्रतिमास्तासां, सञ्जाता रत्नभित्तिषु ॥ ७०

स्नात्वा सरसि सौरभ्यं, लीलोद्यानादुपाहरन् । तमीसमीरणः स्त्रैणं, यत्र कामीव सेवते ॥ ७१

सिद्धसरोवर्णनम्

यस्मिन् सरो हरोपेन्द्रप्रासादैः परितश्रितम् । आमुक्तमौक्तिकं भूमेर्भात्येकमिव कुण्डलम् ॥ ७२

आभाति यस्य गम्भीरं, सरः स्मेरैः सरोरुहैः । खेलन्तीनां सुखं तोयदेवतानां मुखैरिव ॥ ७३

यस्यान्तर्गिरिशागारै[3]र्दीपकाः प्रतिबिम्बिताः । शोभन्ते निशि पातालव्यालमौलिमणिश्रियः ॥ ७४

यस्योच्चैः सरसस्तीरे, राजते रजतोज्ज्वलः । **कीर्तिस्तम्भो** नभोगङ्गाप्रवाहोऽवतरन्निव ॥ ७५

हरप्रासादसन्दोहमनोहरमिदं सरः । राजते नगरं तच्च, राजहंसैरलङ्कृतम् ॥ ७६

सशङ्ख-चक्र[4]ः प्रथितप्रभूताव[5]तारशाली कमलाभिरामः ।
स एष कासारशिरोवतंसः, कंसप्रहर्तुः प्र[6]तिमां बिभर्ति ॥ ७७

न **मानसे**[7] माद्यति मानसं मे, **पम्पा** न सम्पादयति प्रमोदम् ।
अच्छोदमच्छोदकमप्यसारं, **सरोवरे राजति सिद्धभर्तुः**[8] ॥ ७८

प्रतितटघटितोर्मिघातजातप्रसृमरफेनकदम्बकच्छलेन ।
[9]हरहसितसितद्युतिं स्वकीर्तिं, दिशि दिशि कन्दलयत्ययं तडागः ॥ ७९

अलवुलहरिलिप्तव्योमभागे तडागे, तरलतुहिनपिण्डापाण्डुडिण्डीरदम्भात् ।
तरुणतरणितापव्यापदापन्नमुच्चैरिह विहरति ताराचक्रवालं विशालम् ॥ ८०

एकत्र स्फुटदब्जराजिरजसा बभ्रूकृतः सुभ्रुवां, प्रभ्रश्यत्कुचकुम्भकुङ्कुमरसैरन्यत्र रक्तीकृतः ।
[10]अन्यत्र स्मितनीलनीरजलदलच्छा[11]येन नीलीकृतः, श्रेयःसिन्धुरवर्ण[12]कम्बलधुरां[13] धत्ते सरःशेखरः ॥ ८१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये नगरवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥

१ °पि यत् प्र० मु० ॥ २ °पि पीडिताः वा० ॥ ३ °दीपिकाः मु० ॥ ४ °चक्रप्रथितः प्रभू° मु० ॥ ५ अवतारास्तीर्थाभिधाः पक्षे "मत्स्यः १ कूर्मो २ वराह ३ श्च" इत्यादि दशावताराः बा० टि० ॥ ६ प्रतिभां प्र० ॥ ७ °से मेद्य° मु० ॥ ८ देवसरोवरं श्रीसिद्धराजजयसिंहदेवस्य बा० टि० ॥ ९ हरिहरहसितद्युतिं मु० ॥ १० अप्यत्र प्र० वा० ॥ ११ "सेनाशालासुराच्छाया–", २ । ४ । २५ । इति न पुंस्त्वम् बा० टि० ॥ १२ °वर्ण्यक° प्र० ॥ १३ धुरं मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीयः सर्गः ।

चौलुक्यवंशवर्णनम्

अथ **चौलुक्य**भूपालः, पालयामास तत् पुरम् । जितराजसमाजः श्री**मूलराज** इति श्रुतः ॥ १

आवर्जिता जितारातेर्गुणैर्बाणरिपोरिव । गूर्जरेश्वरराज्यश्रीर्यस्य जज्ञे स्वयंवरा ॥ २

लाटेश्वरस्य सेनान्यमसामान्यपराक्रमः । दुर्वारं **बारपं** हत्वा, हास्तिकं यः समग्रहीत् ॥ ३

सपत्राकृतशत्रूणां, सम्पराये स्वपत्रिणाम् । महेच्छः **कच्छ**भूपालं लक्षं लक्षं चकार यः ॥ ४

दानोपद्रुतदारिद्र्यं, शौर्यनिर्जितदुर्जनम् । कीर्तिस्थगितकाकुत्स्थं, यो राज्यमकरोच्चिरम् ॥ ५

तस्मिन्नथ कथाशेषे, निःशेषितनिजद्विषि । राजा **चामुण्डराजो**ऽभून्महीमण्डलमण्डनम् ॥ ६

विरोधिवनिताचित्ततापाध्यापनपण्डिताः । यदीयाः कटकारम्भाः, कृतजम्भारिभीतयः ॥ ७

पाणिपङ्कजवर्तिन्या, स्फुरत्कोशविलासया । यस्यासिभ्रमरश्रेण्या, भिन्ना वंशाः क्षमाभृताम् ॥ ८

लोकत्रयोल्लसत्कीर्तिर्महीपतिमतल्लिका । राजा **वल्लभराजा**ख्यस्ततस्तत्तनुभूरभूत् ॥ ९

सम्भूतकम्पसम्पत्तेर्यदातङ्केन केनचित् । जगाल **मालवेश**स्य, करवालः करादपि ॥ १०

उपरुन्धन् विरुद्धानां, पुरीं पुरुषपौरुषः । **जगज्झम्पन** इत्येष, विशेषज्ञैरुदीरितः ॥ ११

बभूव भूपतिस्तस्यावरजो विरजस्तमाः । श्रीमान् **दुर्लभराजा**ख्यः, सुदुर्लभयशाः परैः ॥ १२

कालेन करवालेन, भोगिनेवाभिरक्षितम् । निधानमिव यद्राज्यमनाहार्यं परैरभूत् ॥ १३

सर्वथाऽनुपभोग्येषु, यस्य सौभाग्यभासिनः । न करः परदारेषु, द्विजसारेषु चापतत् ॥ १४

तस्य भ्रातृसुतः श्रीमान्, **भीमा**ख्यः पृथिवीपतिः । विष्टपत्रितयाभीष्टप्रवृत्तिप्रतिभूरभूत् ॥ १५

मण्डलाग्रेण यः शैत्यशालिना विस्मृतस्मितम् । चकार **भोज**मम्भोजमिव पीयूषदीधितिः ॥ १६

एकधारापतिर्यस्य, द्विधारेणासिना जितः । किं चित्रं ? यदसौ जेतुं, शतधारमपि क्षमः ॥ १७

असौ गुणीति मत्वेव, **भोजः** कण्ठमुपेयुषा । धनुषा गुणिना यस्य, नश्यन्नश्वान्न पातितः ॥ १८

सुपर्णकेतनाभ्यर्णं, तत्र क्षत्रपतौ गते । धात्रीं पोत्रीव तत्पुत्रः, श्री**कर्णः** सार्णवां दधे ॥ १९

गुरुणा विक्रमेणायं, बभूव पितृसन्निभः । आकारेण तु रम्येण, भूपोऽभूदात्मभूसदृक् ॥ २०

विना कर्णेन तेन स्त्रीनेत्राणां न रतिः क्वचित् । इतीव जज्ञिरे तेषामुपकर्णं प्रवृत्तयः ॥ २१

---

१ नारायणस्य **वा० टि०** ॥ २ अत्यन्तपीडिताः **वा० टि०** ॥ ३ संग्रामे **वा० टि०** ॥ ४ स्वधनुषाम् **वा० टि०** ॥ ५ **महेच्छकच्छभूपालं लक्षं लक्षीचकार** मु० ॥ ६ उदारः **वा० टि०** ॥ ७ लाषउ इति नामानम् **वा० टि०** ॥ ८ **लक्षीचकार** मु० । वेध्यम् **वा० टि०** ॥ ९ °**पद्दत**° मु० ॥ १० कोशः खड्गपिधानकम्, पक्षे कुड्मलम् **वा० टि०** ॥ ११ **लोकोत्तरलस**° प्र० ॥ १२ °**गत्कम्प**° मु० ॥ १३ ब्राह्मणधनेषु **वा० टि०** ॥ १४ खड्गेन, पक्षे प्रधानमण्डलेन **वा० टि०** ॥ १५ तीक्ष्णत्वम्, पक्षे शीतलत्वम् **वा० टि०** ॥ १६ हास्यं विकाशश्च **वा० टि०** ॥ १७ नारायणसमीपम्, स्वर्गमित्यर्थः **वा० टि०** ॥ १८ °**त्रीं धात्रीप्रपौत्रीं च श्री**° मु० ॥ १९ वराहः **वा० टि०** ॥ २० °**षामनुक**° मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्कर्णा-ऽर्जुनयोर्वैरं, पूर्वं कर्णः स्मरन्निव । अर्जुनं गमयामास, यशो देशान्तराणि यः ॥ २२

अभिरामगुणग्रामो, रामो दशरथादिव । सूनुः श्री**जयसिंहो**ऽस्माज्जायते स्म जगज्जयी ॥ २३
शिशुनाऽपि शुनासीरवीरवृत्तिमतीयुषा । रुषा भुजिष्यतां नीताः, पिशुना येन भूभुजः ॥ २४
अपारपौरुषोद्गारं, **खङ्गारं** गुरुमत्सरः । **सौराष्ट्रं** पिष्टवानाजौ, करिणं केसरीव यः ॥ २५
असङ्ख्यहरिसैन्येन, प्रक्षिप्तानेकभूभृता । बद्धः **सिन्धुपति**र्येन, वैदेहीदयितेन वा ॥ २६
अमर्षणं मनः कुर्वन्, विपक्षोर्वीभृदुन्नतौ । अगस्त्य इव यस्तूर्ण**मर्णोराज**मशोषयत् ॥ २७
गृहीता दुहिता तूर्ण**मर्णोराज**स्य विष्णुना । दत्ताऽनेन पुनस्तस्मै, भेदोऽभूदुभयोरयम् ॥ २८
द्विषां शीर्षाणि लूनानि, दृष्ट्वा तत्पादयोः पुरः । चक्रे **शाकम्भरीशो**ऽपि, शङ्कितः प्रणतं शिरः ॥ २९
मालवस्वामिनः प्रौढलक्ष्मीपरिवृढः स्वयम् । समित्यपरमारो यः, **परमारा**नमारयत् ॥ ३०
क्षिप्त्वा **धारापतिं** राजशुकवत् काष्ठपञ्जरे । यः काष्ठापञ्जरे कीर्तिराजहंसीं न्यवीविशत् ॥ ३१
एकैव जगृहे **धारा**, नगरी **नरवर्मणः** । दत्ता येनाश्रुधारास्तु, तद्वधूनां सहस्रधा ॥ ३२
धाराभङ्गप्रसङ्गेन, यस्याऽऽसन्नस्य शङ्कितः । प्राघूर्णकमिषाद् दण्डं, **महोबकपति**र्ददौ ॥ ३३
सुधेव वसुधा लब्धुं, वाञ्छिता येन विद्विषा । यस्योल्लसदसिर्बाहुः, राहुश्चक्रे तमाहवे ॥ ३४
जनेन मेने यः स्वामी, कुमार इव शक्तिमान् । ताम्रचूडध्वजः सोऽभूत्, किन्तु केकिध्वजः परः ॥ ३५
येन विश्वैकवीरेण, न स राजा जितो न यः । काष्ठा काऽपि न सा यस्य, यशोभिः शोभिता न या ॥ ३६
गणेशस्येव यस्याग्र्यपुष्करस्य वृषस्थितेः । आज्यसारः करस्थोऽभूद्, **गौडो** मोदकवन्नृपः ॥ ३७
श्मशाने यातुधानेन्द्रं, बद्ध्वा **बर्बरका**भिधम् । **सिद्धराजे**ति राजेन्दुर्यो जज्ञे राजराजिषु ॥ ३८
रजोभिः समरोद्भूतैर्यत् पुरा मलिनीकृतम् । तत् पश्चात् कीर्तिकल्लोलैर्येन क्षालितमम्बरम् ॥ ३९

महीमण्डलमार्तण्डे, तत्र लोकान्तरं गते । श्रीमान् **कुमारपालो**ऽथ, राजा रञ्जितवान् प्रजाः ॥ ४०
पृथुप्रभृतिभिः पूर्वैर्गच्छद्भिः पार्थिवैर्दिवम् । स्वकीयगुणरत्नानां, यत्र न्यास इवार्पितः ॥ ४१
न केवलं महीपालाः, सायकैः समराङ्गणे । गुणैर्लोकम्पृणैर्येन, निर्जिताः पूर्वजा अपि ॥ ४२
सुकृतैकरतेर्यस्य, मृतवित्तानि मुञ्चतः । देवस्येव नृदेवस्य, युक्ताऽभूदमृतार्थिता ॥ ४३
करवालजलैः स्नातां, वीराणामेव योऽग्रहीत् । धौतां बाष्पाम्बुधाराभिर्निर्वीरीणां न तु श्रियम् ॥ ४४
शूराणां सम्मुखान्येव, पदानि समरे ददौ । यः पुनस्तत्कलत्रेषु, मुखं चक्रे पराङ्मुखम् ॥ ४५
हृदि प्रविष्टयद्बाणक्लिष्टेनाघूर्णितं शिरः । **जाङ्गल**क्षोणिपालेन, व्याचक्षाणैः परैरपि ॥ ४६
चूडारत्नप्रभाकम्रं, नम्रं गर्वादकुर्वतः । कणशः **कुङ्कणे**शस्य, यश्चकार शरैः शिरः ॥ ४७

---

१ इन्द्रः **वा० टि०** ॥ २ वा इवार्थे **वा० टि०** ॥ ३ °**राध्वंसप्र**° मु० ॥ ४ **यस्य सान्निध्यश**° मु० ॥ ५ **महोदयपति**° प्र० वा० ॥ ६ एतत्पद्यानन्तरमस्मत्पार्श्वस्थप्राचीनप्रतिद्वयेऽप्यनुपलभ्यमानं मुद्रितपुस्तके टिप्पण्यामधिकमेकं पद्यं निष्टङ्कितं वर्तते । तथाहि—

महोबकपुराधीशाज्जितान्मदनवर्मणः । कोटीः षण्णवतीर्हेम्नो, यस्तन्मानमिवाऽऽददे ॥
७ वृषः पुण्यम्, पक्षे मूषकः **वा० टि०** ॥ ८ **यत्र** वा० ॥ ९...........**रते**° प्र० । **वीतरागरते** मु० । मुद्रितपुस्तकगतोऽयं पाठः केनचिद् रिक्तस्थाने कल्पयित्वा पूरितः, न चासौ समीचीन इति ॥ १० °**राणां तु न श्रि**° प्र० वा० । निःपतिसुतानां **वा० टि०** ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रागाद् भूपाल**बल्लाल-मल्लिकार्जुन**योर्मृधे । गृहीतौ येन मूर्धानौ, स्तनाविव जयश्रियः ॥ ४८
दक्षिणक्षितिपं जित्वा, यो जग्राह द्विपद्वयम् । तद्यशोभिः करिष्यामो, विश्वं नश्यद्विपद् वयम् ॥ ४९
विहारं कुर्वता वैरिवनिताकुचमण्डलम् । महीमण्डलमुद्दण्डविहारं येन निर्ममे ॥ ५०
पादलग्नैर्महीपालैः पशुभिश्च तृणाननैः । **यः मार्थित इवात्यर्थमहिंसाव्रतमग्रहीत्** ॥ ५१

भूपालोऽ**जयपालो**ऽभूत्, कल्पद्रुमसमस्ततः । चक्रे वसुन्धरा येन, काञ्चनैरनकिञ्चना ॥ ५२
दण्डे मण्डपिका हैमी, सह मत्तैर्मतङ्गजैः । दत्वा पादं गले येन, **जाङ्गलेशा**दगृह्यत ॥ ५३
जामदग्न्य इवोद्दामधामभर्त्सितभास्करः । क्षत्रास्रक्षालितां धात्रीं, श्रोत्रियत्राचकार यः ॥ ५४
दानानि ददतो नित्यं, नित्यं दण्डयतो नृपान् । नित्यमुद्वहतो नारीर्यस्याऽऽसीत् त्रिगणः समः ॥ ५५

धृतपार्थिवनेपथ्ये, निष्क्रान्तेऽत्र शतक्रतौ । जयन्ताभिनयं चक्रे, **मूलराज**स्तदङ्गजः ॥ ५६
चापलादिव बालेन, रिङ्गता समराङ्गणे । **तुरुष्काधिपते**र्येन, विप्रकीर्णा वरूथिनी ॥ ५७
यच्छिन्नम्लेच्छकङ्कालस्थलमुच्चैर्विलोकयन् । पितुः प्रालेयशैलस्य, न स्मरत्य**र्बुदाचलः** ॥ ५८
द्रुतमुन्मूलिते तत्र, धात्रा कल्पद्रुमाङ्कुरे । उज्जगामानुजन्माऽस्य, श्री**भीम** इति भूपतिः ॥ ५९
भीमसेनेन **भीमो**ऽयं, भूपतिर्न कदाचन । बकापकारिणा तुल्यो, राजहंसदमक्षमः ॥ ६०
मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च, बलवद्भिः शनैः शनैः । बालस्य भूमिपालस्य, तस्य राज्यं व्यभज्यत ॥ ६१

वीरधवलवंशवर्णनम्

अथ तत्रैव **चौलुक्यवंशे** शाखान्तरोद्गतः । **अर्णोराजः** स राजर्षिस्तं ममर्ष न विप्लवम् ॥ ६२
धवलस्य सुतेनापि, तेन कृष्णानुकारिणा । राष्ट्रं निष्कण्टकीकर्तुमारेभे **सुभटेन** तत् ॥ ६३
विस्फुरत्तीव्रहेतीनां दवानामिव सर्वतः । दुष्टानां व्यधितानिष्टं, यत्कृपाणपयोधरः ॥ ६४
विर्चिन्वता रुचिं हैमीं, द्विषदुद्वेगदायिना । व्याप्तं यस्य प्रतापेन, यशसा च जगत्त्रयम् ॥ ६५
आ सम्भवादुदूढस्य, निर्व्यूढस्य च सङ्गरे । प्राणैरुद्यापनं चक्रे, निजशौर्यव्रतस्य यः ॥ ६६

तत्पुत्रः प्रसरत्कीर्तिपताकाचुम्बिताम्बरः । श्री**लावण्यप्रसादो**ऽस्ति, प्रासादः शौर्यसम्पदः ॥ ६७
आकाशमिव चन्द्रेण, पारीन्द्रेणेव काननम् । रम्यं तथाऽनतिक्रम्यं, कुलं येन बभूव तत् ॥ ६८
जघ्ने येनासिदण्डेन, गाढं, **नड्डूलनायकः** । निर्घातेनैव तेनामी, कम्पन्तेऽद्यापि भूभृतः ॥ ६९
न चौरास्तस्य सौराज्ये, दौरात्म्यं कुर्वते क्वचित् । स्वयमेव पुनः कीर्तिं, हरति प्रतिभूभुजाम् ॥ ७०
तेजस्तदिह दान्तारि, दशमस्तक-लङ्कयोः । बभूव भुजयोर्यस्य, राम-लक्ष्मणयोरिव ॥ ७१
पुण्डरीकं दधत्येकं, राजहंसाननेकशः । आकृष्टारियशःफेना, प्रतस्थे यस्य वाहिनी ॥ ७२
समन्ततोऽपि सामन्तगोष्ठ्यैर्निष्ठुरोक्तिभिः । नाऽऽसीन्नृपतिनागस्य यस्य लीलागतिक्षतिः ॥ ७३
पुरो मन्दरवद् वीक्ष्य यं निष्कम्पतया स्थितम् । विनिवृत्तमुपेत्यापि, **धाराधीश**पयोधिना ॥ ७४
दक्षिणः क्षोणिपालोऽपि, घनसैन्योऽल्पविक्रमः । येन तद्विपरीतेन, परित्यजति विग्रहम् ॥ ७५

१ श्रोत्रियस्य दत्ते श्रोत्रियत्राकरोति **वा० टि०** ॥ २ समुदायः **वा० टि०** ॥ ३ वेषः **वा० टि०** ॥ ४ °**र्णा विरू°** प्र० वा० ॥ ५ °**र्षिस्तं नामर्षत विप्ल°** मु० ॥ ६ **वितन्व°** वा० ॥ ७ °**षमुद्रे°** वा० ॥ ८ **नड्डूल°** वा० । **नड्डुल°** मु० ॥ ९ °**स्तत्र सौ°** मु० ॥ १० °**स्थे तस्य** मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीवीरधवलस्तस्य, सूनुर्वीरशिरोमणिः । युद्धे जयश्रियं धन्व-ज्यारावैराजुहाव यः ॥ ७६

आत्मानमात्मजे तस्मिन्नशेषगुणभूषणम् । स पिता दर्पणप्राये, सङ्क्रान्तमिव पश्यति ॥ ७७

बाहुभ्यामिव विक्रान्तो, दन्ताभ्यामिव कुञ्जरः । अधृष्यः पितृ-पुत्राभ्यां, वंशस्ताभ्यां बभूव सः ॥ ७८

कृतविश्वमुदाऽनेन, दानेन प्रतिवासरम् । सुतेन जनता तेन, तातेन च समृध्यते ॥ ७९

अप्यरातिशराघातजातव्रणनतोन्नते । वीरलक्ष्मीश्चिरं यस्यै, वस्तुं वक्षसि वाञ्छति ॥ ८०

वीरः समरकासारे, शिरोभिः सह वैरिणाम् । करीव पुण्डरीकाणि, कन्दयुक्तानि योऽग्रहीत् ॥ ८१

अरातिराजन्यशराभिघातैः, प्रघातभूमौ पतितोत्थितो यः ।
गम्भीरवीरेन्द्रबलाम्बुराशेर्लब्ध्वैव गाधं पुनरुन्ममज्ज ॥ ८२

अथैकदा कन्दलितप्रतापसन्तापिताशेषविपक्षपक्षः ।
निशावसाने न निशातबुद्धिः, प्राबुध्यत श्रीलवणप्रसादः ॥ ८३

प्रबुद्धमात्रोऽपि कुमारपुत्रमाकारयामास नृपावतंसः ।
पुरोधसे तत् किल रात्रिदृष्टं, शिष्टाय तस्मै विनिवेदयिष्यन् ॥ ८४

समेत्य सोमेश्वरदेवनामा, नमस्य ते स्वस्ति निगद्य चास्मै ।
प्रसन्नमूर्तेः पुरतः स तस्य, दृष्टादरो विष्टरमाससाद ॥ ८५

पुरस्कृतस्यास्य पुरः पुरारिप्रसादलब्धं लवणप्रसादः ।
वीरेण तेनानुगतः सुतेन, तं स्वप्नमित्थं कथयाम्बभूव ॥ ८६

जानेऽद्य विद्याधरसुन्दरीभिर्दरीगृहद्वारविहारिणीभिः ।
शृङ्गारितं शृङ्गमहं महाद्रेरारूढवानूढवृषध्वजस्य ॥ ८७

कृतासनं तन्मणिवेदिकायां, जायाङ्कितामर्धतनुं दधानम् ।
प्रसन्नवक्त्राब्जमहं सिताब्जैर्जगत्पतिं पूजयितुं प्रवृत्तः ॥ ८८

विसृज्य पूजामथ मन्मथारेः, समाधिमुद्रां विदधामि यावत् ।
तावत् पुरः कामपि वामनेत्रां, राकामिवाऽऽकारवतीमपश्यम् ॥ ८९

श्वेतांशुतुल्यं वदनं वहन्तीं, श्वेतांशुकां श्वेतविलेपनां ताम् ।
श्वेतां कराग्रे दधतीं च मालामालोक्य बालामतिविस्मितोऽस्मि ॥ ९०

कस्यासि ? काऽसि ? त्वमिहासि कस्मादिति ब्रुवे यावदुपागतां ताम् ।
तावत् तयैवाभिहितोऽस्मि कान्तदन्तद्युता दत्तसितातपत्रः ॥ ९१

हे वीर ! वैरिध्वजिनीगजेन्द्रगण्डस्थलीखण्डनखड्गचण्ड ! ।
प्रत्यर्थिसार्थेन कदर्थ्यमानां, जानीहि मां गूर्जरराज्यलक्ष्मीम् ॥ ९२

---

१ सः मु० ॥ २ °स्य वासं वक्ष° मु० ॥ ३ प्रपात° प्र० ॥ ४ °लब्धावगा° प्र० । °लब्धैर-गाधं मु० ॥ ५ वा० आदर्शे पदच्छेददर्शनद्वारा नमस्यते इति एकं पदं दर्शितमस्ति ॥ ६ तुभ्यम् प्र० टि० ॥ ७ ईश्वर वा० टि० ॥ ८ कैलाश प्र० टि० ॥ ९ ध्यानम् प्र० टि० ॥ १० पुनः मु० ॥ ११ °लामिति° वा० ॥ १२ °लीमण्डनखण्डचण्ड वा० मु० ॥ १३ °राजल° मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिवं गतास्ते बत ! गूर्जरेन्द्रास्ते कुञ्जरेन्द्राश्च हताः सपत्नैः ।
येषां क्षमाभृद्दलनक्षमेषु, भुजेषु दन्तेषु च मे निवासः ॥ ९३

यो वर्तते सम्प्रति चक्रवर्तिपदेऽत्र बालः स बलान्यरीणाम् ।
क्षमः समग्राणि न निग्रहीतुं, दीपस्तमांसीव तटस्थितानि ॥ ९४

ये मन्त्रिणो येऽत्र च मण्डलीकास्तेषु क्रमो नास्ति पराक्रमोऽस्ति ।
प्रतिक्रिया काऽस्तु ततोऽस्ति येषां, कामो मयि स्वामिपरिग्रहेऽपि ॥ ९५

आस्ते सहस्तः स पुमान् न कोऽपि, यो मामिमामुद्धरते निमग्नाम् ।
ग्रहीतुमेते हि सतां विभूतिं, शतं वितन्वन्ति नराः कराणाम् ॥ ९६

सौवस्तिको नास्ति स आमशर्मा, वर्मायितं येन सुधर्मणा मे ।
गतः स मुञ्जालसुतश्च मन्त्रैर्यः क्षत्रसर्पानकरोद् विदर्पान् ॥ ९७

न राष्ट्रकूटान्वयकैटभारिः, प्रतापमल्लोऽस्ति मृधैकमल्लः ।
गन्धोऽपि मत्तारिमतङ्गजानां, गन्धद्विपेनेव न येन सेहे ॥ ९८

विना जगद्देवमिमामवस्थां, नीता निजैरेव परैरिवाहम् ।
यत्र स्थिते वेत्रिणि शङ्कितैर्न, द्विष्टैः प्रविष्टं पुरि गूर्जराणाम् ॥ ९९

अवाप्तवेदाम्बुधिरोधसा च, पुरोधसा तेन कुमारनाम्ना ।
विनाऽद्य वैद्यक्षितिपाललक्ष्मीं, को मे करिष्यत्यपरः सपत्नीम् ? ॥ १००

या मूलराजान्वयजातराजतेजोभिरासीद् विरमत्तमस्का ।
निशागमे साम्प्रतमुद्वसायां, तस्यां न दीपोऽपि नरेन्द्रपुर्याम् ॥ १०१

निरन्तरं सञ्चरतां गजानां, या डिण्डिमैरुड्डमरा ध्वनद्भिः ।
एकाकिनी रात्रिषु गूर्जराणां, सा पूत्करोतीव शिवारुतैः पूः ॥ १०२

क्रीडावतीनां नगराङ्गनानां, वक्त्रैः सदा यत्र सरोजसत्ता ।
सरस्तदश्रूणि किरत्यनाथं, वातास्तपाथःकणकैतवेन ॥ १०३

मुण्डेव खण्डितनिरन्तरवृक्षखण्डा, निष्कुण्डलेव दलितोज्ज्वलवृत्तवप्रा ।
दूरादपास्तविषया विधवेव दैन्यमभ्येति गूर्जरधराधिपराजधानी ॥ १०४

तन्मां स्वचक्र-परचक्रहतावशेषां, निःशेषिताखिलसपत्न ! समुद्धरस्व ।
यस्मादमानवचरित्रपवित्रितेन, सम्भावनाऽत्र भवता भुवनेऽर्जिताऽसौ ॥ १०५

एकेन केशिरिपुणा विधृतं यदुच्चैर्भारेण भङ्गुरमिवासुरभूपतीनाम् ।
तद्वीर ! वीरधवलेन सुतेन भूयः, सम्भूय भूवलयमुद्धर सम्प्रति त्वम् ॥ १०६

---

१ हताः प्र० वा० ॥ २ तु प्र० वा० ॥ ३ मुञ्जील° मु० ॥ ४ राठउड वा० टि० ॥ ५ °द्य वैद्य° वा० ॥ ६ °रजत्त° मु० ॥ ७ सा फूत्क° मु० ॥ ८ तस्मात् स्व° मु० ॥ ९ तद्वीर ! वा० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याहृत्य कृत्यमिति सा सहसा च कण्ठपीठे निवेश्य विशदामिह पुष्पमालाम् ।
कुत्रापि तत्रभवती सह निद्रया मे, याताऽथ यूयमिह जल्पत भोः किमेतत् ? ॥ १०७

इत्थं वदन्नथ हरिप्रतिहस्तकोऽसौ, सौवस्तिकेन जगदे जगदेकवीरः ।
स्वप्नोऽयमर्थमकदर्थनया ददानो, व्याख्यानमिच्छति भवान्निव नैव देव ! ॥ १०८

राजन्य ! धन्यतममन्यमहं न मन्ये, ग्रस्तारिवीरभुजवैभवतो भवन्तः ।
या न स्पृशत्युपनतानपरान् कदापि, यत् त्वामुपेन्द्रमिव सा वृणुते स्वयं श्रीः ॥ १०९

युष्मादृशामसदृशान्वयसम्भवानां, न श्लाघ्यते जगति केन कुलार्गलाऽसौ ? ।
अग्रेसरीभवति दुश्चरितप्रवृत्तौ, या सङ्गरव्यतिकरापसृतौ तु पश्चात् ॥ ११०

उद्गच्छतस्तव रवेरिव सम्पराये, छायेव सम्मुखमुपैति न शत्रुसेना ।
दीपाङ्कुरा इव दशान्तमुपेयिवांसस्तेजो निजं मुकुलयन्ति च मण्डलीकाः ॥ १११

आनीतवानसि गुणैर्गुरुभिः स्वकीयैर्बद्ध्वा नृपश्रियमिमां सुभटोपभोग्याम् ।
सन्मन्त्रिभिस्तदनुरञ्जय मञ्जुमूर्ते !, व्यावर्तते नहि यथा त्वदसौ स्थिताऽसौ ॥ ११२

दृप्यद्भुजाः क्षितिभुजः श्रियमर्जयन्ति, नीत्या समुन्नयति मन्त्रिजनः पुनस्ताम् ।
रत्नावलीं जलधयो जनयन्ति किन्तु, संस्कारमत्र मणिकारगणः करोति ॥ ११३

पित्रा विचित्रचरितानुकृताऽच्युतेन, तेनाथ **वीरधवलो** बलवान् नियुक्तः ।
युक्तश्च भूभरसमुद्धरणे विधात्रा, चिन्तां चकार सचिवेषु शुचिक्रियेषु ॥ ११४

अथ दशरथकल्पस्त्यक्ततल्पः प्रभाते, स च नृपतिरपत्यं तच्च रामोपमेयम् ।
स च परिचरणीयो **गूर्जराणां** विशिष्टप्रतिकृतिरुदतिष्ठत् कर्म साध्यं विधातुम् ॥ ११५

॥ इति गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये नरेन्द्रवंशवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

---

१ पूज्या **प्र० टि०** ॥ २ **ना** वा० ॥ ३ अकष्टेन **प्र० टि०** ॥ ४ °**र्थतया** मु० ॥ ५ °**रिवैरिभुजवैभवतो भवन्तः** वा० ॥ ६ **यदापि** वा० ॥ ७ **सन्मुख**° वा० ॥ ८ तथा **प्र० टि०** ॥ ९ °**दवस्थि**° मु० ॥ १० वर्द्धयति **प्र० टि०** ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयः सर्गः ।

वस्तुपालवंशवर्णनम्

रसालङ्करणे तस्मिन्नालवालानुकारिणि । प्रांशुः **प्राग्वाट**वंशोऽभूत्, **पुरे गूर्जरभूभुजाम्** ॥ १

त्वचि साराः परे वंशाः, सदा पत्राणि बिभ्रति । क्रियासारैश्च वंशोऽयं, धत्ते पात्रपरम्पराम् ॥ २

नररत्नैर्यदुत्पन्नैरुद्भूताद्भुतकान्तिभिः । विभूषिता विशेषेण, जगतीव सरस्वती ॥ ३

मन्त्रिमण्डलमार्तण्ड**श्चण्डपः** प्रथमः पुमान् । कुले तस्मिन्नुदेति स्म, तमसामवसानकृत् ॥ ४

चाणक्यादिव चातुर्यं, गिरमाङ्गिरसादिव । अम्भोधेरिव गाम्भीर्यं, यः शुभैकाग्रहोऽग्रहीत् ॥ ५

न च्छिद्रं क्षुद्रमप्यत्र, मन्त्रिरत्ने निवेशितम् । धात्रा केन प्रकारेण, सोऽनुस्यूतगुणः कृतः ? ॥ ६

मानी नामन्यत श्लाघ्यां, यः श्रियं सरसीरुहाम् । यैर्मनागपि न म्लानमिनपादावधीरितैः ॥ ७

तद्भू**श्चण्डप्रसादो**ऽभूद्, गङ्गाडिण्डीरपाण्डुभिः । यशोभिः ककुभां येन, चक्रे श्रीखण्डमण्डनम् ॥ ८

कदाचिदपि न त्यक्तः, पाणिपद्मगृहीतया । गेहिन्येव वदान्योऽयं, नृपव्यापारमुद्रया ॥ ९

मृदुर्वाणी मतिस्तीक्ष्णा, साधुः श्रीः कीर्तिरित्वरी । वीतरागं मनो यस्य, स्फीतरागं करद्वयम् ॥ १०

यः पराभूतकर्पूरैः, कीर्तिपूरैर्निरन्तरम् । चिरं विरचयामास, राकामाकालिकीमिह ॥ ११

सोमः समुद्गतस्तस्मादुज्जगाम मनोरमः । सवित्री जातमात्रेण, येन द्यौरिव दिद्युते ॥ १२

अपूर्वः कोऽपि सोमोऽयं, कलङ्कविकलाकृतिः । न हि मारपुरस्कारं, चक्रे भावं च नो भवे ॥ १३

निदधे गुणरत्नानां, यत्र कोशः स्वयम्भुवा । तत्र श्री**सिद्धराजो**ऽपि, रत्नकोशं न्यवीविशत् ॥ १४

स्वं मेने येन **सोमेन**, पूर्णेनाभ्यर्णवर्तिना । गृहीतानन्तभोगः [12]श्री**सिद्धेशो**ऽधिकमीश्वरात् ॥ १५

सावित्रं बिभ्रता तेजः, **सीतां** च सहचारिणीम् । काकुत्स्थेनेव येनापि, न दीनातिक्रमः कृतः ॥ १६

अमेयमहिमा श्रीमा**नश्वराज**स्ततोऽभवत् । येन दानार्द्रहस्तेन, हस्तिराजोऽप्यजीयत ॥ १७

तस्मान्निरन्तरत्यागस्थगिताश्रितदुःस्थितैः । [15]निर्जरैरिवन्द्रियैर्लब्धा, कामना न मनागपि ॥ १८

आनीतं न्यायतो वित्तं, व्ययितं धर्मकर्मसु । यशस्तु जगति स्तुत्यं, केवलं यस्य तिष्ठति ॥ १९

प्राकृतां रेणुकाबाधां, स्मरन्ननुशयादिव । मातुर्विशेषतश्चक्रे, भक्तिं यः पुरुषोत्तमः ॥ २०

जनन्या जठरे मासानध्युवास दशैव यः । हृदयाम्भोरुहे तस्य, यावज्जीवमियं पुनः ॥ २१

---

१ °**रस्थवं**° प्र० वा० ॥ २ इच्छा तेजश्च **प्र० टि०** ॥ ३ तमसां दुष्टानाम् **प्र० टि०** ॥ ४ अन्त **प्र० टि०** ॥ ५ **चाणिक्या**° वा० ॥ ६ °**त्ने न्यवेशयत् । धात्रा(ता) के**° मु० ॥ ७ तथापि **प्र० टि०** ॥ ८ इनः–सूर्यः, पाद–किरणाः, अवधीरित–अवगणित, अनस्वामीपादैः **प्र० टि०** ॥ ९ अकालभवाम् **प्र० टि०** ॥ १० मरणं कामश्च **प्र० टि०** ॥ ११ भवः–संसारः शिवश्च **प्र० टि०** ॥ १२ **श्रीसमिद्धः सोऽधिक**° वा० । **श्रीसमिद्धोऽधिक**° मु० ॥ १३ सवित्र्या इदं सवितुरिदम् **प्र० टि०** ॥ १४ **यस्मा**° प्र० ॥ १५ **निर्जरैरिवे**° मु० ॥ १६ °**गत स्तु**° प्र० ॥ १७ चक्रवर्ती **प्र० टि०** ॥ १८ **यस्य** प्र० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सततं सचिवश्रेणिमाणिक्यस्याङ्गसङ्गिनी । कान्ता **कुमारदेवी**ति, तस्य कान्तिरिवाभवत् ॥ २२

स्वाभाविकेन शौचेन, मान्याः सुमनसामपि । प्रवाहा इव जाह्नव्यास्तया सूताः सुतास्त्रयः ॥ २३

मुख्यः श्री**मल्लदेवा**ख्यो, **वस्तुपाला**ह्वयस्ततः । **तेजःपाला**भिधः पश्चात्, त्रयी भाति त्रयीव सा ॥ २४

पुरुषाणामिमास्तेषां, परेषामिव मूर्तयः । त्रिधा विभिद्यमाना अप्येकैव परमार्थतः ॥ २५

स्वयं शुद्धेषु यत् तेषु, गुरुणा शौचशिक्षणम् । घनसारपरागेण, मार्जनं मौक्तिकेषु तत् ॥ २६

तैर्लब्धं **मल्लदेवे**न, यशः शुभ्रं विभाव्य यैत् । शिष्टैर्न विष्टपे दृष्टं, कैरवं कैरवश्रया ? ॥ २७

इयती **मल्लदेव**स्य, कौस्तुभेन विभिन्नता । जिनो हृदि यदेतस्य, जिनस्य त्वपरः सदा ॥ २८

वस्तुत्वं **वस्तुपाल**स्य, सैव वेत्ति सरस्वती । तदीयवदनाम्भोजे, या वसत्यनुवासरम् ॥ २९

स्थितं पुरुषयोर्मध्ये, पूर्वजानुजयोस्तयोः । मन्यते मध्यमं यः स्वमुत्तमं तं जनः पुनः ॥ ३०

किमस्तु **वस्तुपाल**स्य, मन्त्रीन्दोः साम्यमिन्दुना ? । यद् दत्ते वसुधामेष, सुधामेवापरः पुनः ॥ ३१

वृद्धिं न्यग्रोधशाखीव, स प्राप्नोति यथा यथा । क्षमालङ्करणः केषां, नाश्रयः स्यात् तथा तथा ? ॥ ३२

षड्भिरेव गुणैर्येन काऽपि कीर्तिपटी कृता । वसुन्धरा धराऽम्भोधिसहिता पिहिता यया ॥ ३३

मन्ये मनसि साधूनां, यो वसत्यनुवासरम् । यदनुक्तोऽपि जानीते, विधत्ते च तदीप्सितम् ॥ ३४

अहङ्करोति नात्मानं, त्वङ्करोति न सद्गुरून् । यः पुनः प्रधनारम्भे, हुङ्करोति विरोधिनः ॥ ३५

दयिता **ललितादेवी,** यस्य सर्वाङ्गहारिणी । अर्धाङ्गहारिणीं पत्युः, पार्वतीं हसतीव या ॥ ३६

तस्मादमात्यजीमूतात्, सुक्षेत्रेऽस्मिन् सुताङ्कुरः ।
जयसिंहाह्वयः सोऽयं, बालोऽपि फलितः सताम् ॥ ३७

पूर्वे सर्वेऽपि तार्यन्ते, निस्तार्यन्ते तथाऽर्थिनः । एतेन यस्य पोतेन, प्रतार्यन्ते न तु प्रजाः ॥ ३८

तेजःपालः पुनस्तेषु, सोदरेषु लघुः किल । निजप्रभुप्रसादेन, गुरुणाऽपि न लङ्घ्यते ॥ ३९

छन्दःशास्त्रे श्रुताऽस्माभिर्लघुताऽपि क्वचिद् गुरोः । तस्मिन् बन्धुजने दृष्टा गुरुताऽस्य लघोरपि ॥ ४०

अश्वराजात्मजावेतौ, नासत्यावमृतौषधैः । सम्प्रति प्रतिकुर्वाते, सर्वमप्यातुरं जगत् ॥ ४१

अमी सुमनसस्तेन, स्पर्धन्तामुद्धताः कथम् ? । सोऽपि सद्बुद्धिना येन, जितः सुमनसां गुरुः ॥ ४२

अपूर्वं तस्य वैदुष्यं, यद् दिक्पालैः स्वभूभुजा । समानैर्दशभिः सार्धं, मेने सन्ध्यक्षराणि यैः ॥ ४३

शुभस्वभावमालोके, लोकेऽस्मिन्नेकमेव तम् । यदुक्तं तत् करोत्येव, यत् कृतं तन्न वक्ति यः ॥ ४४

उपकृत्य कृती पुंसां, वित्ते तेषां न केवलम् । अपि यः स्तुतिलक्ष्मायां, सचिवेन्दुर्गतस्पृहः ॥ ४५

उपकर्ता सतामन्यैरुपकारयिता च यः । हरते हि मरुत् तापं, हारयत्यपि वारिदैः ॥ ४६

वात्ययेवोन्नतिं नीतः, श्रिया तृणसमः पुमान् । क्षमां त्यजति न त्वेष, शिखरीवोदयन्नपि ॥ ४७

अपूर्वं मन्त्रिमाणिक्यं, चाणक्यमिह मन्महे । वसुधावलये येन, सदानन्दोदयः कृतः ॥ ४८

यद्यप्य**नुपमा** नाम, प्रेयसी तस्य मन्त्रिणः । मूर्त्या तथापि मन्येऽहमेनां मेनाङ्गजामिव ॥ ४९

लावण्यसिंहनामानं, सा लावण्यवतंसिता । तनयं जनयामास, विनयावर्जितप्रजम् ॥ ५०

---

१ **शौर्येण, मा°** मु० ॥ २ **यह्ल°** मु० ॥ ३ **तत्** मु० ॥ ४ **यत्** मु० ॥ ५ **°कृत्यै** मु० ॥ ६ **°सचिवो दुर्गं°** मु० ॥ ७ **चाणिक्य°** वा० ॥ ८ **°सिनम्** मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुपाल-तेजःपालयोः मन्त्रिमुद्रार्पणम्

भूमिभर्तुरथ कर्तुमिच्छतस्तस्य सत्पुरुषसङ्ग्रहं श्रिये ।
एकदा हृदयमागताविमौ, दीप्तशीतकरणाविवाम्बरम् ॥ ५१
तद्गुणान् निपुणया मनीषिणामग्रणीर्धिषणया विमृश्य सः ।
आजुहाव च समागतौ च तौ, कार्यसिद्धिरविलम्बिनी सताम् ॥ ५२
तत्र तौ ददृशतुः शतक्रतुप्रायमायतभुजं महीभुजम् ।
सानुजं च सचिवं स दृष्टवानर्थजुष्टमिव धर्ममग्रतः ॥ ५३
तावुपायनमुपायपण्डितौ, मण्डितौजसिकपद्धतेः पुरः ।
उद्रणय्य चरणद्वयं मुदा, तस्य वीरतरणेः प्रणेमतुः ॥ ५४
तेन वेनतनयानुकारिणा, कर्तुमात्मकरणाधिकारिणौ ।
सप्रसादवदनेन सादरं, सोदरौ समुपवेशिताविमौ ॥ ५५
तस्य निर्दलितभूरिभूभृतः, स्वर्पतिप्रतिकृतेः कृतासनौ ।
अश्वराजतनुजौ रराजतुस्तौ सुरा-ऽसुरगुरूपमौ पुरः ॥ ५६
एतयोर्विनयनम्रमस्तकन्यस्तसम्पुटितपाणिपद्मयोः ।
निर्ममे समदशत्रुदन्तिनामङ्कुशः स कुशलानुयोजनम् ॥ ५७
नीलनीरदरवानुवादिना, नादयन्नथ दिशः स्वरेण सः ।
तौ पुनश्चरितचातकव्रतौ, वक्तुमारभत मारसन्निभः ॥ ५८

आकृतिर्गुणसमृद्धिशंसिनी, नम्रता कुलविशुद्धिसूचिका ।
वाक्क्रमः कथितशास्त्रसङ्क्रमः, संयमश्च युवयोर्वयोऽधिकः ॥ ५९
श्लाघ्यतां कुलमुपैति पैतृकं, स्यान्मनोरथतरुः फलेग्रहिः ।
उन्नमन्ति यशसा सह श्रियः, स्वामिनां च पुरुषैर्भवादृशैः ॥ ६०
यौवनेऽपि मदनान्न विक्रिया, नो धनेऽपि विनयव्यतिक्रमः ।
दुर्जनेऽपि न मनागनार्जवं, केन वामिति नवाकृतिः कृता ? ॥ ६१
आवयोस्तु पितृ-पुत्रयोर्महानाहितः क्षितिभरः पुरद्रुहा ।
तद् युवां सचिवपुङ्गवावहं, योक्तुमत्र युगपत् समुत्सहे ॥ ६२
विद्युदञ्चलचलाचलां श्रियं, सन्निवेश्य सचिवेषु साधुषु ।
सम्प्रहारभरसम्भृतश्रमाः, शेरते सुखममी क्षमाभुजः ॥ ६३
येन केन च सुधर्मकर्मणा, भूतलेऽत्र सुलभा विभूतयः ।
दुर्लभानि सुकृतानि तानि यैर्लभ्यते पुरुषरत्नमुत्तमम् ॥ ६४
मत्पितुर्भुजयुगेन संयुगादाहृतां जितयुगश्रिया श्रियम् ।
अक्षरक्षणविचक्षणौ युवां, नित्यमेधयतमिद्धया धिया ॥ ६५

---

१ उद्गुणं° प्र० ॥ २ स्वःष्पति वा० । स्वःपति° मु० ॥ ३ °वयं, यो° मु० ॥ ४ °चलश्रि° वा० मु० ॥ ५ °केनचन धर्म° प्र० ॥ ६ व्यवहार प्र० दि० ॥

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

इत्युदीर्य भुजवीर्यशालिना, मुद्रिता दशनचन्द्रिकाऽमुना ।
वस्तुपालवदनारविन्दतः, स्यन्दते स्म मधु वाग्मयं ततः ॥ ६६

देव ! सेवकजनः स गण्यते, पुण्यवस्तु गुणवत्सु चाग्रणीः ।
यः प्रसन्नवदनाम्बुजन्मना, स्वामिना मधुरमेवमुच्यते ॥ ६७

सप्रसादवदनस्य भूपतेर्यत्र यत्र विलसन्ति दृष्टयः ।
तत्र तत्र शुचिता कुलीनता, दक्षता सुभगता च गच्छति ॥ ६८

जायते जलदवृन्दवृष्टिभिः, शाखिनां सफलता शनैः शनैः ।
तुष्यतां क्षितिभृतां नु दृष्टिभिस्तत्क्षणादपि नृणां फलोदयः ॥ ६९

नास्ति तीर्थमिह पार्थिवात् परं, यन्मुखाम्बुजविलोकनादपि ।
नश्यति द्रुतमपायपातकं, सम्पदेति च समीहिता सताम् ॥ ७०

जीवनाय मनुजन्मनामिह, भ्राम्यतामथ कदापि स प्रभुः ।
त्वादृशो भवति भाग्ययोगतो, वेत्ति यः सदसतां यदन्तरम् ॥ ७१

किन्तु विज्ञपयिताऽस्मि किञ्चन, स्वामिना तदवधार्यतां हृदा ।
न्यायनिष्ठुरतरा गिरः सतां, श्रोतुमप्यधिकृतिस्तवैव यत् ॥ ७२

सा गता शुभमयी युगत्रयी, देव ! सम्प्रति युगं कलिः पुनः ।
सेवकेषु न कृतं कृतज्ञता, नापि भूपतिषु यत्र दृश्यते ॥ ७३

ते राजानः स्वर्गताश्चक्रिरे यैर्वी रैवैरिक्ष्मापतीनां प्रबन्धाः ।
तेऽपि प्राप्तास्तत्र सन्मन्त्रिणो ये, श्लोकांस्तेषां शोधयन्ति स्म शुद्धाः ॥ ७४

दृष्टिर्नष्टा भूपतीनां तमोभिस्ते लोभान्धान् साम्प्रतं कुर्वतेऽग्रे ।
यैर्नीयन्ते वर्त्मना तेन यत्र, भ्रश्यन्त्याशु व्याकुलास्तेऽपि तेऽपि ॥ ७५

न सर्वथा कश्चन लोभवर्जितैः, करोति सेवामनुवासरं विभोः ।
तथापि कार्यः स तथा मनीषिभिः, परत्र बाधा न यथाऽत्र वाच्यता ॥ ७६

पुरस्कृत्य न्यायं खलजनमनादृत्य सहजानरीन् निर्जित्य श्रीपतिचरितमाश्रित्य च यदि ।
समुद्धर्तुं धात्रीमभिलषसि तत् सैव शिरसा, धृतो देवादेशः स्फुटमपरथा स्वस्ति भवते ॥ ७७

सचिववचनमेतच्चेतसा सोत्सवेन, क्षितितलतिलकोऽयं कर्ण्यमाकर्ण्य सम्यक् ।
अकृत कनकमुद्राकान्तिकिञ्जल्कसान्द्रं, करसरसिजयुग्मं मन्त्रियुग्मस्य तस्य ॥ ७८

अवनिपतिरनेन भूरिधाम्ना, सचिवयुगेन चिराद् विराजमानः ।
पतगपतिरिवारिनागनाशं, जनयति पक्षयुगेन संयुगे सः ॥ ७९

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये मन्त्रप्रतिष्ठा नाम तृतीयः सर्गः ॥

---

१ वाङ्मयं वा० मु० ॥ २ °नां फललता प्र० ॥ ३ °रैर्वोरक्ष्मा° वा० मु० ॥ ४ °र्जितं वा० ॥ ५ धात्रीं समभिलषसि तच्छैष वा० ॥ ६ °ऽयं कृत्स्नमा° मु० ॥ ७ मन्त्रिस्थापना नाम वा० । मन्त्रिस्थापनो नाम मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थः सर्गः ।

वस्तुपालस्य मन्त्रित्वावदातः

श्री**वीरस्य** धरोद्धारधुरीणस्योपधारणम् । चक्रतुः सचिवावेतौ, पादौ सुरगिरेरिव ॥ १

ताभ्यां कल्याणरूपाभ्यां मन्त्रिभ्यामधिकाधिकम् । नृपाखण्डलराज्यश्रीः, कुण्डलाभ्यामिव व्यभात् ॥ २

न्यायं निवेशयन्नुर्व्यां, निर्व्याजः स्वजनः सताम् । **स्तम्भतीर्थं** जगाम श्री**वस्तुपालो** विलोकितुम् ॥ ३

स्तम्भतीर्थे स्थितस्तीर्थप्रभाव इव मूर्तिमान् । केषां मुमोष नो दोषमीप्सितानि ददौ च यः ॥ ४

तमन्यमिव सश्रीकं, समुद्रमवलोकयन् । ईर्ष्ययेव पयोभङ्गैर्भ्रूभङ्गं विदधेऽम्बुधिः ॥ ५

कोऽप्यपूर्वः समुद्रोऽयमपापः पृथिवीतले । यस्मात् प्रसरति स्वादुरसपूरा सरस्वती ॥ ६

प्रविवेश पुरे तत्र, स पश्चान्मन्त्रिसत्तमः । तस्याऽऽगमे तु पौराणां, प्रमोदः प्रथमं हृदि ॥ ७

हट्टे हट्टे पटोत्तम्भस्तोरणं च गृहे गृहे । पुरुषे पुरुषे प्रीतिः, सम्प्राप्ते तत्र मन्त्रिणि ॥ ८

धान्यैर्धन्यमिव क्षेत्रं, फलैरिव घनं वनम् । सरः पूर्णमिवार्गोभिस्तेनाऽभूच्चारु तत् पुरम् ॥ ९

क्रूरैर्ग्रहैरिवाऽऽक्रम्य, मुक्तमन्यैर्नियोगिभिः । प्रीणात्येष पुरं मन्त्री, नक्षत्रमिव चन्द्रमाः ॥ १०

पुरं रोगैरिव ग्रस्तमपरैरधिकारिभिः । सद्वैद्य इव तन्त्रज्ञो, मन्त्री प्रतिकरोति यः ॥ ११

केनाऽप्यन्येन या चक्रे, सतां पीडाऽधिकारिणाम् । वार्यते **वस्तुपालेन**, सा सम्प्रत्यधिकारिणा ॥ १२

प्रत्यावृत्तिः कृतस्येव, कलेरिव गलग्रहः । बलेः पुनरिवोत्थानं, स मेने सुमनःशतैः ॥ १३

निशासु नीचसम्भोगसम्भूतधनकामना । सत्यत्र मन्त्रिमाणिक्ये, गाणिक्येनापि तत्यजे ॥ १४

सर्वत्रोच्छ्वसितं सद्भिः, खलानां म्लानमाननैः । निराकृतदुराचारं, व्यापारं तत्र तन्वति ॥ १५

सांयात्रिकजनो येन, कुर्वाणो हरणं नृणाम् । निषिद्धस्तदभूदेष, धर्मोदाहरणं भुवि ॥ १६

स्पृष्टा-ऽस्पृष्टनिषेधाय, विधायावधिवेदिकाम् । पुरेऽस्मिन् वारितस्तेन, तक्रविक्रयविप्लवः ॥ १७

धात्रा स्थानेषु भग्नेषु, ताम्यतामाश्रयः सताम् । सद्वंशः सद्गुणश्चायं, पटावास इवाभवत् ॥ १८

स्वामिना संप्रसादेन, पाणिर्यद्यपि मुद्रितः । तथाऽप्युन्मुद्रितस्तस्य, वित्तविश्राणनक्षणे ॥ १९

स्निग्धैः सम्भाषणैरेव, यस्य द्रविणवर्षिणः । अर्थिनामुपशाम्यन्ति, दौःस्थ्यनिःश्वासवायवः ॥ २०

स्थानभ्रष्टस्य यः साधोराधारः सारवत्तया । जटाजूटः सुरतःस्रोप्रवाहस्येव शाम्भवः ॥ २१

लोकेऽस्मिन्नवमन्वाने, जाने वैराग्यमागताः । सरस्वत्यास्पदं तीर्थमिव यं शिश्रियुर्गुणाः ॥ २२

महतां वर्त्तमानानां वित्तेनोपकरोति यः । स्वर्गतानां जरत्पूर्तकीर्तनोद्धरणेन तु ॥ २३

प्रासादास्तेन देवानामुद्धृताः कारिताश्च ये । नवत्वमेव विख्यातमसङ्ख्येष्वपि तेष्वभूत् ॥ २४

---

१ °**रूपिभ्यां** मु० ॥ २ **व्यधात्** मु० ॥ ३ °जः **सुमनः** वा० । °जः **सुजनः** प्र० ॥ ४ **तद्वैद्य** प्र० वा० ॥ ५ °**रिण** प्र० मु० ॥ ६ **सत्प्रसा**° मु० ॥ ७ °**तां विद्यमाना**° मु० ॥ ८ °**रत्कीर्तिकी**° वा० ॥ ९ **ते**° प्र० वा० ॥ १० **येष्व**° प्र० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यन्न्यूनं यत्र यन्नष्टं, यस्तत्र तदचीकरत् । उत्पत्तिरुत्तमानां हि, रिक्तपूरणहेतवे ।। २५
अकल्पयदनल्पानि, देवेभ्यः काननानि यः । हरनेत्राग्नितापस्य, यत्र न स्मरति स्मरः ।। २६
रम्भासम्भावितैर्यस्य, वनैर्वृषनिषेवितैः । मनोज्ञसुमनोवर्गैः, स्वर्गसौन्दर्यमाददे ।। २७
सङ्गृहीतानि हारीत-शुक-चित्रशिखण्डिभिः । धर्मशास्त्रसधर्माणि, यस्योद्यानानि रेजिरे ।। २८
दर्शयन् सुमनोभावं, श्रीमत्तामतुलामयम् । काननानां स्वबन्धूनां, स्वबन्धूनामिवाऽकरोत् ।। २९
सरांसि राजहंसालीशालीन्ययमचीखनत् । तेनैव तुल्यता येषां, स्यादस्ताघतया तया ।। ३०
आददानाः पयःपूरं, यत्कासारेषु कासराः । विराजन्तेतरां पारावारेष्विव पयोधराः ।। ३१
अकारयदयं वापीरपापीयःक्रियारतः । सुधाया अपि माधुर्यं, यज्जलैर्गलहस्तितम् ।। ३२
ताः प्रपाः कारितास्तेन, यदीयं पिबतां पयः । तृप्यन्त्यास्यानि पान्थानां, न रूपं पश्यतां दृशः ।। ३३
भवार्णवतरी **ब्रह्मपुरी** येनात्र निर्ममे । यस्यां गायन्ति सामानि, नरा नार्यस्तु तद्यशः ।। ३४
स्फुटं वेष्टयता शुभ्रैः, कीर्तिकूटैः पटैरिव । दशाऽपि ग्राहिता येन, दिशः श्वेताम्बरव्रतम् ।। ३५
येन पौषधशालास्ताः, कारितास्तारितात्मना । मध्ये श्वेताम्बरैर्यासां, विशुद्धिः सुधया बहिः ।। ३६
यस्य पौषधशालासु, यतयः संवसन्ति ते । सदा येषामदाराणामात्मभूसम्भवैः कुतः ? ।। ३७
ज्ञानाख्यं यस्य तच्चक्षुर्वाचांदेवी ददे मुदा । नित्यं येनैष धर्मस्य, गतिं सूक्ष्मामपीक्षते ।। ३८
अयं जगति मध्यस्थः, स्पष्टं सृष्टिकृता कृतः । धर्माध्वानस्तदेतस्य, स्थिताः सर्वेऽपि तावति ।। ३९
नानर्च भक्तिमान् **नेमौ**, नेमौ शङ्कर-केशवौ । जैनोऽपि यः सवेदानां, दानाम्भः कुरुते करे ।। ४०
लभन्ते लोभतः पापाः, शापानन्ये नियोगिनः । अधिकारमधिकारममात्यः पात्यसौ पुनः ।। ४१

सिंहनराजस्य गूर्जरदेशोपरि अभियोगः

अथ **गूर्जरराज**राज्यलक्ष्मीं, रमणीयां चरचक्षुषा निरीक्ष्य ।
पृतनां द्रुतमादिदेश दूतीमिव तत्सङ्ग्रहणाय **दक्षिणेन्द्रः** ।। ४२

श्रीतसिङ्घनसैन्यसिंहनादप्रसरा **गूर्जरराज**राजधानी ।
हरिणीव हरिन्मुखावलोकं, चकितान्तःकरणा मुहुश्चकार ।। ४३

गृहमारभते न कोऽपि कर्तुं, कुरुते कोऽपि न सङ्ग्रहं कणानाम् ।
स्थिरतां क्वचनापि नैति चेतः, परचक्रागमशङ्कया प्रजानाम् ।। ४४

अवधीरितधान्यसञ्चयानां, बहुमानः शकटेषु मानवानाम् ।
विपदामुदये हि दुर्निवारे, शरणं चक्रभृदेव देहभाजाम् ।। ४५

समुपैति यथा यथा समीपं, रिपुराजध्वजिनी मदात् तदानीम् ।
परतः परतस्तथा तथाऽसौ, जनता जातभयोच्छ्रया प्रयाति ।। ४६

तदवेत्य जवेन **यादवेन्दो**र्बलमागच्छदतुच्छवीरवर्गम् ।
भृकुटीकुटिलं चकार कोपादलिकं श्री**लवणप्रसाददेवः** ।। ४७

१ °**दनेकानि** मु० ।। २ **यद्यशः** वा० ।। ३ °**वः कथम्** ? प्र० । अत्र **कथं**पदोपरि **प्र०** आदर्शे **कुतः** इति टिप्पणी कृता वर्त्तते ।। ४ **लोभतः** वा० मु० ।। ५ **श्रीसिङ्घन**° प्र० ।। ६ °**राद् गू**° प्र० ।। ७ °**रगर्वम्** मु० ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपकण्ठमकुण्ठविक्रमस्य, स्फुरदुस्रप्रसरा हरिण्मयी स्रक् ।
शुशुभेऽस्य चुलुक्यभूपलक्ष्म्या, भयवत्या निहितेव बाहुवल्ली ॥ ४८

परिपन्थिवैरूथिनीं प्रभूतां, स नृपस्तुच्छपरिच्छपरिच्छदोऽप्यगच्छत् ।
बलिनाऽप्यरिणा रणप्रवृत्तौ, सुभटानां हि पदानि सम्मुखानि ॥ ४९

बलवारिधिराजगाम शत्रोरुपतापीतटमुर्वरोपतापी ।
रभसादभिधावति स्म वीरः, स महीतीरमहीनबाहुशक्तिः ॥ ५०

प्रचुरं तदरातिराजचक्रं, तदजय्यं च बलं चुलुक्यभर्तुः ।
विमृशन् बहुशोऽपि सन्दिहानो, न जनो निश्चिनुते स्थितिं गतिं वा ॥ ५१

रिपुसैन्यनिवेशभूः प्रजानां, विदिताऽभूदनिवेदिताऽपि दूतैः ।
गगनाङ्गणगाहनोल्बणैस्तज्ज्वलितग्रामसमूहधूमकूटैः ॥ ५२

भृगुकच्छमहीमहीनसरयां, चरतस्तानचिरेण वृष्णिवर्गान् ।
न बहूनपि दुर्जयानजय्यः, समरेऽमन्यत वीरकेसरी सः ॥ ५३

प्रसरत्यथ मत्सरप्रबन्धे, द्रुतमेकेन रणोल्बणं कृपाणम् ।
अपरेण सुतं करेण वीरं, सहसा संयति यान्तमेष दध्रे ॥ ५४

चतुर्णां मरुभूपानां लाट-गोद्रहनृपयोश्च गूर्जरत्रोपर्यभियोगः

क्षितिपान्तरविग्रहप्रसक्तौ, पितृ-पुत्रावथ विग्रहीतुमेतौ ।
विदितावसरैश्चिराच्चतुर्भिर्मरुभूपैः सहसोपचक्रमाते ॥ ५५

उभयोरनयोश्चतुर्भिरेभिर्विगृहीतिर्विहिताऽथ साऽपि पृष्ठे ।
इयतैव बुधैर्विभवनीयं, सुभटत्वं मृधमूर्ध्नि यस्य यावत् ॥ ५६

अथ गोद्रह-लाटदेशनाथौ, मरुनाथैर्निभृतं निबद्धसन्धी ।
विधुरे परिहृत्य तत्र मित्रद्वितयं तत्कटकादुपेयतुस्तान् ॥ ५७

असतोरबलं तयोः सतोर्वा, सबलं स्वं मनुते स्म नैष वीरः ।
जलधिर्विगतैरुपागतैः स्यान्नहि भिद्योद्धयजलैः क्षयी चयी वा ॥ ५८

पुरतो यदि सिङ्घनस्य सैन्यं, यदि पृष्ठे मरुभूभुजश्च तौ च ।
न बभूव तयोरचिन्त्यशक्त्योर्मुखरागस्य विपर्ययस्तथाऽपि ॥ ५९

पुरतः सरतो यदुप्रवीराननुगच्छन् समरे करीव मत्तः ।
व्यथितः प्रतिपार्थिवैः स पश्चात्, सपदि व्याववृते नृपः सकोपः ॥ ६०

जगति ज्वलिताखिलप्रदेशः, प्रचुरीभूतमलिम्लुचप्रचारः ।
सु परस्परविग्रहो ग्रहणामिव तेषामभवन्नरेश्वराणाम् ॥ ६१

१ °रा. हिरण्म° मु० ॥ २ क्ष्म्या, वलयत्या वा० ॥ ३ °विरू° प्र० वा० ॥ ४ सन्मुखा° प्र० वा० ॥ ५. °विबोधनी° मु० ॥ ६ यत्क° मु० ॥ ७ °हि नद्योधजलैः प्र० । भिद्य उद्धय इति एतन्नामानौ द्वौ महानदौ ॥ ८ °व सत्तमः । व्य° वा० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवलोक्य **चुलुक्यपार्थिवौ** तौ, विपरीतैर्बहुभिर्नृपैः परीतौ ।
खर-शीतकराविवाम्बुवाहैर्जनतेयं मनुते स्म दुर्दिनं तत् ॥ ६२

वलितेऽपि **चुलुक्यपार्थिवे**ऽस्मिन्, न कृतं तैर्यदुभिः पुरः प्रयाणम् ।
हरिणैरनुगम्यते न मार्गो, हरिणा तत्क्षणमाश्रितोज्झितोऽपि ॥ ६३

हरितं परिहृत्य चन्दनाद्रेरथ गन्तुं हिमभूभृतः प्रवृत्तः ।
अभवल्लवणप्रसादशूरः, प्रसरत्तीव्रतरप्रतापरौद्रः ॥ ६४

सहजा इति येषु बन्धुबुद्धिः, प्रथमाऽभूदथ तान् विकारकर्तॄन् ।
षडपि द्विषतो विमृश्य जेतुं, नृपवीरः स पुरश्चकार योगम् ॥ ६५

वस्तुपालस्य भेदनार्थं शङ्खराजेन दूतस्य प्रेषणम्

प्रसृतेऽथ महीक्षितां विरोधे, क्षयसिन्धाविव **सिन्धुराजसूनुः** ।
प्रणिधिं प्रणिधाय मन्त्रिणेऽस्मै, तृणवद् विश्वमपि स्मयेन पश्यन् ॥ ६६

चुलुकोद्भवभूपतेरमात्यं, भयकालेऽपि निराकुलं तमेत्य ।
प्रणिधिः प्रणिपत्य च प्रवीणो, विनयैच्छन्नमदामुवाच वाचम् ॥ ६७

सुभटैरपरैर्विमुक्तमस्त्रं, समरोर्वीषु य एक एव धत्ते ।
अथवा भुवने निराश्रयाणां, शरणं किन्नु तथाविधैर्विनाऽस्तु ? ॥ ६८

दलितेऽपि दले स्थितः समित्यां, **यदुभि**र्यो बहुभिर्धृतः कथञ्चित् ।
हृदयेषु गुणार्जितेषु तेषामपरेषामपि विश्रमं जगाम ॥ ६९

विधृतेऽपि सुतेऽत्र तत्सवित्री, न सपत्राकृतमानसा तथाऽभूत् ।
समरे हि भयङ्करेऽपि व्यक्तः, समसत्त्वेन न येन लज्जिताऽसौ ॥ ७०

अवलोकितमात्र एव गुप्तेर्यदुसिंहेन विमोच्य **सिंहनेन** ।
निदधे भुजपञ्जरे स्वयं यः, क लभन्ते गुणिनो हि न प्रतिष्ठाम् ? ॥ ७१

विधुरेऽपि न मुञ्चते निजं यः, कुलधर्मं च कुलान्वयप्रदीपः ।
स यदाह मदाननेन **शङ्खः**, शृणु तन्मन्त्रिशिरोमणे ! स्वपथ्यम् ॥ कुलकम् ॥ ७२

विषमेऽपि कथं स कृत्यमार्गे, स्खलतु श्री**लवणप्रसादपुत्रः** ? ।
प्रददाति पदे पदे प्रबुद्धः, सचिवो यस्य भवान् करावलम्बम् ॥ ७३

निपुणोऽसि गुणेषु षट्सु जाने, पुनरेषा तव धीरता कुतस्त्या ? ।
व्यसने समुपस्थितेऽपि भर्तुर्यदशङ्कः कुरुषेऽधिकारमेवम् ॥ ७४

अयि ! वेत्ति भवानपीदृशं यत्, पितृभुक्तिर्मम **पत्तनं** यदेतत् ।
स्वधनग्रहणार्थमागतोऽहं, समयज्ञोऽसि तदर्प्यतामिदं मे ॥ ७५

---

१ **पुनश्च**° मु० ॥ २ **महीभृतां** मु० ॥ ३ °**यच्छिन्न**° वा० ॥ ४ **तेष्वऽप**° वा० ॥ ५ °**रेऽपि भ**° वा० मु० ॥ ६ °**पि वक्तः** वा० । °**पि वक्तुः** मु० ॥ ७ **सिंहने**° वा० ॥ ८ °**लिष्ठाः** वा० ॥ ९ **स सत्य**° मु० ॥ १० °**ङ्कः पुरुषाधिकारमेकः** मु० ॥ ११ **अपि** मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि सम्प्रतिपत्तिरस्ति चित्ते, नगरस्यास्य नियोगवासना च ।
प्रणम द्रुतमेत्य तत् प्रसन्ने, मयि दूरे न तवाधिकारमुद्रा ॥ ७६

अपरोऽपि विधास्यतेऽधिकारी, नगरे कश्चन पैतृके मयाऽस्मिन् ।
भजसे यदि मां ततः स्थिरैव, त्वयि मुद्राऽस्तु गुणाः प्रियाः प्रभूणाम् ॥ ७७

अथ चेतसि किञ्चिदन्यथा ते, स्थितमास्ते तदपि प्रियङ्करं नः ।
यदसाध्यविरोधिसाधनाय, प्रतिभूरेष ममास्ति खड्गदण्डः ॥ ७८

अवलेपमलीकमाश्रितो यः, प्रभुमल्पार्थिनमन्यथा करोति ।
कुपितेन स तेन दण्ड्यमानः, सह जीवेन ददाति वित्तजातम् ॥ ७९

सिन्धुराजदूतं प्रति वस्तुपालस्य प्रतिवचः

अथ स व्यथितोऽपि तद्वचोभिर्न विकारं प्रकटीचकार मन्त्री ।
मलिनत्वमुपैति वातनुन्नैर्न रजोभिः सुरवाहिनीप्रवाहः ॥ ८०

जगदे जगदेकबन्धुनैवं, सचिवेनाऽपसरद्वचाः स चारः ।
भवताऽभिहितं यदात्मभर्तुश्चरितं तन्न चमत्करोति कस्य ? ॥ ८१

तरणेरिव **सिन्धुराजसूनो**र्महसा दुष्प्रसहेन शुष्कदेहम् ।
दहति स्म सुखेन **लक्ष्मदेव**द्रुममुच्चैरपि **यादवेन्द्र**दावः ॥ ८२

समरैकरतेरमुष्य सत्त्वस्तुतिकोलाहलकाहलानिनादैः ।
श्रुतिमार्गमुपैति मर्त्यलोके, सुभटानामभिधाऽपि नापरेषाम् ॥ ८३

विपरीतमतित्वमस्य मन्ये, यदसावर्थयते पुरं तदेतत् ।
हयसैन्यसहायतोऽपि **सिंहा**न्नृपसिंहेन विगृह्य यद् गृहीतम् ॥ ८४

बहुभिः सह योद्धुमक्षमं मे, मनुते स्वामिनमेष तन्मृषैव ।
ननु निश्चलनिश्चयस्य पुंसस्त्रिदशा यान्ति सहायतां क्रियासु ॥ ८५

बकपाटकचेष्टितं न दृष्टं, न च **सिद्धेश्वर**सन्निधानयुद्धम् ।
किमनेन मनस्विनो यदस्य, क्षितिमाकाङ्क्षति लीलयैव लब्धुम् ? ॥ ८६

तनयः पितृवित्तमर्हतीति, व्यवहारः पुरुषान्तरेषु युक्तः ।
परसम्पदपेक्षिणां नृपाणां, स कृपाणे न कृतः पुनः प्रमाणम् ॥ ८७

तदुपेहि पतिं स्वमेवमस्मद्वचसा ब्रूहि च देव ! वेत्सि सर्वम् ।
अवलेपमिमं विमुञ्च नो चेदयमस्मि त्वमितो विचार्य कुर्याः ॥ ८८

---

१ °ग्रेप्सा° वा० मु० ॥ २ °भूरस्ति ममैष स्व° मु० ॥ ३ °मभ्यर्थि° मु० ॥ ४ °नापि सर° मु० ॥ ५ °देहः वा० ॥ ६ °धायिनां परे° मु० ॥ ७ यदेत° वा० ॥ ८ सिंहनादान्नृ° वा० ॥ ९ °नु निश्चयनिश्चलस्य वा० मु० ॥ १० °स्विना यदीशश्क्षिति° प्र० ॥ ११ °पममुं वि° मु० ॥ १२ त्वमितो मु० ॥

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

श्रुत्वा वचः सचिवचक्रशतक्रतोस्तद्, भूयोऽप्यभाषत रुषा परुषाक्षरं सः ।
आः ! किं ब्रवीषि मदमन्दमतिस्त्वमेवं ?, देवस्य तस्य नियतं नहि वेदिताऽसि ॥ ८९

कुर्वाणस्त्वयि शस्त्रधारणमसावस्मत्पतिर्लज्जते,
येनैकेन रणाङ्गणेऽवगणितः सेनाघनः **सिङ्घनः** ।
तत् ते चेतसि चेद् विचारकणिका काऽप्यस्ति तन्मुच्यतां,
मानोऽयं नयवेदिनाऽथ भवता वर्त्मेदमामुच्यताम् ॥ ९०

अथ सचिवमवश्यमाह्वाय, प्रवणमतिं मतिमानयं विदित्वा ।
पवन इव वनोन्मुखं कृशानुं, विभुमभिषेगनवाञ्छमभ्यगच्छत् ॥ ९१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदी-नाम्नि महाकाव्ये दूतसमागमनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

१ **वर्मेदमा**° वा० मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चमः सर्गः ।

सिन्धुराजेन साकं गूर्जरेश्वरस्य संग्रामः

कथितारिविचारेण, चारेण प्रेरितस्ततः । **सिन्धुराजात्मजः** सिन्धुर्वायुनेवोदजृम्भत ॥ १

कुपितः करवालेन, **सिन्धुराजाङ्गभू**र्बभौ । कल्पान्तविप्लुतः शम्भुः, कृतान्तेनेव सङ्गतः ॥ २

भृकुटीघटना भाले, तस्य भाति स्म भीषणा । त्र्यक्षचक्षुर्यया जिग्ये, युगान्तोद्भ्रान्तपावकम् ॥ ३

रुषा स्मितमुखः **शङ्खः**, शङ्खपाणिसमच्छविः । नाभवद् भीतये कस्य सितविद्युदिवाम्बुदः ? ॥ ४

स प्रतस्थे हयोद्धूतैः परागपटलैर्घनैः । प्रावृषं राजहंसानामकाले कल्पयन्निव ॥ ५

केकिपैत्रभयच्छत्रच्छन्ना तस्य पताकिनी । जङ्गमोद्यानलेखेव, दोःस्थितायां जयश्रियः ॥ ६

झटित्यागत्य साटोपो, **वटकूप**सरस्तटे । व्याचष्ट पटहोद्घोषैर्द्विषामेष स्वमागतम् ॥ ७

निस्वाननिस्वनानस्य, स्वकर्णाभ्यर्णमागतान् । उदस्तभृकुटीभङ्ग्या, मन्त्री प्रत्युदगादिव ॥ ८

मन्त्री यद्यपि गाम्भीर्याद्, भावं नाऽऽविश्चकार तम् । तथाप्येष कृतोत्थानैर्व्यक्तीभूतः शिरोरुहैः ॥ ९

सन्नद्धसैनिकः **शङ्खो**, भिन्नशङ्ख इव द्विपः । सङ्गरावेशदुर्वारः, सञ्चचार शनैः शनैः ॥ १०

[आविष्ट इव राधेयवधोग्रेण किरीटिना । स तदा सचिवश्चापमाममर्श मुहुर्मुहुः ॥]

स **चौलुक्यनृपा**मात्यः, सञ्चरत्यरिसञ्चये । सैन्यमारचयामास, त्रासमुक्तेन चेतसा ॥ ११

चन्दना-ऽगुरु-कर्पूर-कस्तूरीकुसुमस्रजः । स्वःस्त्रीसम्भोगमिच्छद्भिरिव धीरैर्विदध्रिरे ॥ १२

सन्नाहः सङ्गरारम्भसम्भवत्सत्त्वसम्पदः । उच्छ्वसत्यामममात्यस्य, न मात्यस्य तनौ तदा ॥ १३

दक्षिणेनांह्रिणा क्षोणिक्षोदनाज्जयशंसिनम् । आरुरोह जवादश्व**मश्वराजाङ्गसम्भवः** ॥ १४

श्री**वीरनृपमुद्रां** यः, सदा धारयते करे । वीरशूद्रकमुद्राऽपि, धृता तेन तदा हृदि ॥ १५

भटा **भुवनपाला**द्या, यद्यप्यग्रे तदाऽभवन् । तथापि स पुरस्तेषां पौरैः शूरतया मतः ॥ १६

अग्रे शङ्खचमूचक्रं, मध्ये प्रहरणाङ्गणम् । पारेरत्नाकरं वीरशिरोरत्नमसौ स्थितः ॥ १७

समासन्नेऽपि सङ्ग्रामे, शौर्योद्भेदं न भाषितैः । स चक्रे सचिवोत्तंसः, क्रियासारा हि तादृशाः ॥ १८

स्थितं सङ्ख्यमुखे शङ्खस्तं वीक्ष्य विकसन्मुखम् । पाणौ रणरसोत्तालः, करवालमलालयत् ॥ १९

स्थितेऽत्र सम्मुखे **शङ्खः**, प्रवेष्टुं नाशकत् पुरीम् । रोहिणीं रोषरौद्रोऽपि[6], यथा दशरथे शनिः ॥ २०

चलन्मन्त्रिबलोत्क्षिप्तः, क्षोणिरेणुगणोऽनणुः । उदैष्यतः प्रतापाग्नेर्धूमराशिरिवोत्थितः ॥ २१

धूलिध्वान्तोदये तस्मिन्, मुखोद्द्योतेन मन्त्रिणः । प्रतापः प्रकटीचक्रे, श्री**वीरधवल**प्रभोः ॥ २२

प्रभूतमपि तत् सैन्यं, क्षोभायाभून्न मन्त्रिणः । तेऽल्पेऽपि बहवो येषां, रणारम्भे स्थितं मनः ॥ २३

स्थितेन तेन धीरेण, कर्तुमद्वैतमात्मनः । गोष्ठीसमः समित्यां स, स्याद्वादी सचिवो यदि ॥ २४

---

१ **केतुप**° मु० ॥ २ **उदजृम्भ**° मु० ॥ ३ पद्यमिदमधिकं वर्त्तते **प्र०** आदर्शे ॥ ४ °**त्या अमा**° मु० ॥ ५ **क्षोणीक्षो**° प्र० ॥ ६ °**पि, व्यथादशरथो** मु० ॥ ७ **क्षोणीरेणुगणो ननु** मु० ॥ ८ °**त्वां यः, स्या**° मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाहिन्योस्तत्र सम्भेदे, स कोऽपि तुमुलोऽभवत् । यस्याग्रे मन्द्रतामेति, सामुद्रोऽपि महाध्वनिः ॥ २५
अवाञ्चितानि चापानि, भ्रुवोर्युग्ममुदञ्चितम् । सुभटैः कोपसाटोपैः, सेनयोरुभयोरपि ॥ २६
काण्डानां सह कोदण्डगुणैः सन्धिरजायत । तेषां वीरप्रकाण्डानां, विग्रहस्तु परस्परम् ॥ २७
कर्णे लगद्भिरन्येषामन्येषां जीवितव्ययम् । कुर्वाणैर्विदधे बाणैः, स्पष्टं दुर्जनचेष्टितम् ॥ २८
तत्राऽऽहवमहातीर्थे, विशिखैर्गुणनिर्गतैः । भित्त्वा विकर्तनं चक्रे, परस्मिन् पुरुषे लयः ॥ २९
विहाय शरधिं वेगाच्चापमापुः शिलीमुखाः । चिह्नमेतत् सपक्षाणां, विधुरे यत् पुरः स्थितिः ॥ ३०
वक्षो विक्षिप्य वैपक्षं, पत्रिणः परतो गताः । न चिरं निर्गुणैर्लभ्या, धीराणां हृदयवस्थितिः ॥ ३१
खड्गिनः खड्गिभिः कुन्तपाणयः कुन्तपाणिभिः । योधा योधैर्हयारूढा, हयारूढैश्च सङ्गताः ॥ ३२
मन्त्रीशकरसंसर्गादिव दानार्थमुद्यतः । असिरुत्सृष्टवान् कोशं, बद्धमुष्टिरपि क्षणात् ॥ ३३
वीराणां पाणि-पादाब्जैः, पूजितेवाऽऽहवक्षितिः । दत्तार्थेव च दूर्वाभकेशमिश्रैः शिरःफलैः ॥ ३४
अहिंसाव्रतभङ्गेन, का स्यात् तस्यात्र वाच्यता ? । पुरुषव्रतनिर्वाहो, येन तादृक् कृतस्तदा ॥ ३५
अहिंसाभङ्गसम्भूतां, मन्त्री मार्ष्टुं मनःखिदम् । चक्रे दिव्यमिव स्नानं, स शूरः शरवृष्टिभिः ॥ ३६
प्रभुप्रोत्साहनं पृष्ठे, मागधोत्तेजनं पुरः । विक्रान्तानां विशेषेण, जातं विक्रमवृद्धये ॥ ३७
उद्दिश्यापि द्विषा मुक्तैर्न मन्त्री बिभिदे शरैः । अदृष्टः कोऽपि शिष्टानां, बद्धकक्षो हि रक्षणे ॥ ३८
सुभटासृक्सरित्पूरः पुरस्ताद् दुस्तरो यदि । तथापि न विशश्राम, मन्त्री शत्रूनभि व्रजन् ॥ ३९
विभाव्य तमसम्भाव्यमवष्टम्भं रणे रिपोः । स्वचमूचरैः संहारमारब्धं च परैः पुरः ॥ ४०
वीरः **सङ्ग्रामसिंहो**ऽथ, सङ्ख्ये **शङ्ख**पराह्वयः । आविर्भावितवानुच्चैर्निजसंरम्भसौरभम् ॥ ४१
युग्मम् ॥
अपि भ्रूपल्लवोल्लासः, परैर्यस्य सुदुःसहः । तस्य **सङ्ग्रामसिंह**स्य, खड्गोल्लासं सहेत कः ? ॥ ४२
तमन्तकमिवाऽऽयान्तमनपेक्षितजीवितः । भटो **भुवनपाला**ख्यः, शङ्खे प्रत्यभिजग्मिवान् ॥ ४३
सखा **शङ्ख**स्य **सामन्तः**, सेनां सीमन्तयन्नरैः । बलाद् **गुलकुलो**त्तंसमभ्ययुङ्क्त तमन्तरा ॥ ४४
शास्त्रैः शस्त्रेषु भग्नेषु, तयोरप्रतिमल्लयोः । मल्लयोरिव सञ्जज्ञे, केशाकेशि भुजाभुजि ॥ ४५
वियति प्रेक्षमाणाभिरप्सरोभिर्मृधं तयोः । बहु मेने स्वकीयानां, चक्षुषामनिमेषता ॥ ४६
सामन्तमन्तकस्यान्तं, स नीत्वा सत्वरं पुनः । समं **सङ्ग्रामसिंहेन**, सङ्ग्रामं कर्तुमभ्यगात् ॥ ४७
शङ्खेन खड्गघातैस्तैः, खण्डं खण्डं कृतं वपुः । सङ्ख्ये **भुवनपाल**स्य, पौरुषं न तु खण्डितम् ॥ ४८
स वीरो मन्त्रिवीरस्य, **शङ्खा**सिन्यस्तमस्तकः । तस्य प्रभुप्रसादस्य, प्राणैरुच्छ्रूवणोऽभवत् ॥ ४९
श्रुत्वा **भुवनपाल**स्य, निधनं मृधमूर्धनि । मन्त्री तेनैव वैरेण, रणाय प्रवणोऽधिकम् ॥ ५०
प्रियं विक्रामतां क्रेतुमसुभिः सुलभं यशः । धृतासिः प्राविशद् वीरो **वीरमः** समरापणम् ॥ ५१
शङ्खपत्तिर्जयन्तश्च, मन्त्रिपत्तिश्च **वीरमः** । उभौ शम्भुसभां यातौ, सविवादौ जयश्रिये ॥ ५२
वैरिणामपि वीरेण, रणान्तर्व्ययितात्मना । वाचि **चाचिगदेवेन**, स्वबाहुस्तुतिराहिता ॥ ५३

१ **तुमलो** प्र० वा० ॥ २ **हृदयस्थितिः** प्र० ॥ ३ °**रसङ्घार**° वा० ॥ ४ **मङ्क्षुमिवमाया**° मु० ॥ ५ °**कृपाते**° मु० ॥ ६ **रुच्छ्राव**° प्र० वा० ॥ ७ **शम्भू समां या**° मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थित्वा विपद्यमानेन, भग्नेऽपि स्वचमूजने । पदे पदे कृतः स्तोमः, **सोमसिंहेन** सङ्गरे ॥ ५४
स्वामिशत्रुमहत्वाऽपि, मृतोऽस्मीति ह्रिया किल । **विजयेन** तथा यातं, नेहाऽऽयातं यथा पुनः ॥ ५५
क्ष्मातलक्षेपबुद्ध्येव, **शङ्खेन** दृढमाहतः । भटो **भुवनसिंहस्तु**, सपदि त्रिदिवं गतः ॥ ५६
प्राणेभ्योऽपि प्रियं शस्त्रं, क्षत्राणामिति निश्चयः । तथाऽ**भ्युदयसिंहेन**, त्यक्तास्ते नोज्झितं तु तत् ॥ ५७
स्वखड्गखण्डितैर्वीरशिरोभिर्विषमीकृते । पेते **विक्रमसिंहेन**, क्रोधान्धेन मृधाध्वनि ॥ ५८
विम्भ्यमः **कुलसिंहेन**..........दर्शनात् । वक्रा च विस्फुरत्कुन्ते, युद्धे वै कुण्ठबुद्धिना ॥ ५९
भित्वा भल्लीभिरङ्गेभ्यो, निर्गताननपङ्क्तिभिः । उद्दलन् शुशुभे तत्र, सोऽयं द्रुम इवोद्दलः ॥ ६०

पश्यतः सचिवं धीरं, तथैव स्थितमग्रतः । **शङ्खस्यापि** चमत्कारः, प्रससार तदा हृदि ॥ ६१
विकारवर्जितं वीक्ष्य, साक्षात् तं पुरुषं परम् । प्रबुद्धमिव **शङ्खेन**, विरमत्कोपसम्पदा ॥ ६२

चौलुक्यचन्द्रसचिवेन्द्रमवार्यशक्तिं, मत्वा स्थितं स्थगयताऽथ रजोभिराशाः ।
आकम्पितप्रचुरपत्रनृपांह्रिपेण, **शङ्खेन** यातमपसृत्य महाबलेन ॥ ६३
मन्त्रीश्वरोऽयमनुभूतभटोपमर्दः, सौवर्णपिण्ड इव सोढहुताशतापः ।
आनन्दकन्दलितबाष्पविलोचनेन, लोकेन पूजितमतीव बभाज तेजः ॥ ६४
सङ्ग्रामसिंहं स महानियोगी, योगी यथा योगबलेन कालम् ।
संहर्तुमायान्तमतीत्य चक्रे, कुशाग्रबुद्धिः कुशलं पुरस्य ॥ ६५
संवीक्ष्य वीररसरोपितरोमराजिराजिक्षितिं क्षतभटामिषगर्द्धिगृद्ध्राम् ।
मन्त्री न्यवर्तत ततः प्रेमदाश्रुपूतैः, सूतैः पुरः प्रतिपदोदितदोर्विभूतिः ॥ ६६
सन्धाय बन्धुनताजनितोपरोधाद्, दूरे विरुद्धहृदयोऽपि समं नृपस्तैः ।
पुत्रेण तेन सह दुःसहपौरुषेण, सोऽथाऽऽससाद नगरीं **लवणप्रसादः** ॥ ६७

प्रतिनृपतिभिर्भग्नोत्साहैर्निमग्नमिव क्वचित्,
स च नरपतिर्वीरस्तीरं जगाम मृधाम्बुधेः ।
दिशि दिशि यशःस्तोमान् **सोमान्वयी** समचारय-
च्चतुरकुरलीचाणेक्योऽयं प्रियङ्करणैर्गुणैः ॥ ६८

॥ इति गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये युद्धवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

१ **विमभ्यः** मु० ॥ २ प्र० आदर्शे पद्यस्यास्य स्थानं रिक्तं वर्तते ॥ ३ °**रङ्गिभ्यो** वा० मु० ॥ ४ °**न् सो शुभे** वा० ॥ ५ **तत्रेशोऽयं** वा० मु० ॥ ६ °**वं हीरं** वा० मु० ॥ ७ **यानम**° वा० मु० ॥ ८ °**षमर्द्धिग्रद्धा** वा० । °**षमार्धगृध्नाम्** मु० ॥ ९ **प्रमदोपपूतैः** वा० । **प्रमदोपहूतैः** मु० ॥ १० °**धाद्, वीरैर्विरु**° मु० ॥ ११ °**ण स्वार्थां स**° वा० मु० ॥ १२ **चतुरतुरली**° मु० ॥ १३ °**क्योऽसौ प्रि**° प्र० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठः सर्गः ।

श्रीवस्तुपालेन बलान्निरस्तां, तां दुस्तरामापदमाकलय्य
महोत्सवानामकृत प्रवृत्तिं, वीतोपसर्गः पुरवासिवर्गः ॥ १
गृहे गृहे धातुरसानुलेपाः, समन्ततः स्वस्तिकपङ्क्तिमन्तः ।
विरेजिरे तूर्यरवानुकूलाः, कुलाङ्गनामङ्गलगीतयश्च ॥ २
बभूव देवेषु विशेषपूजा, राजन्यमार्गेषु विशेषशोभा ।
विशेषहर्षः पुरपूरुषेषु, विशेषवेषश्च वधूजनेषु ॥ ३
येषां निमेषार्द्धमपि क्षपायामायान्न निद्रा रिपुविद्रवेण ।
सुस्थीकृतानां सचिवोत्तमेन, तेषां च हर्षान्तरितेयमासीत् ॥ ४
पुरप्रजानां प्रमदामृतेन, तेनातिमात्रं शिशिरीकृतानाम् ।
निःशेषिताशेषसरःसमृद्धिर्ग्रीष्मो न भीष्मोऽप्यभवद् भयाय ॥ ५
शिरीषपुष्पप्रचयच्छलेन, शुचिर्दधानो हृदयं म्रदीयः ।
आषाढवान् बाढमपास्तकामः, कर्मन्दिकल्पस्तमुपाजगाम ॥ ६
आमात्यमालोक्य चुलुक्यभर्तुः, कर्तुं स्थितं शस्त्रभृतो निरस्त्रान
मन्ये मनोभूरपि मन्दमन्दं, चापक्रियाचापलमाचचार ॥ ७
दिङ्मण्डली पाटलिपुष्पगन्धसम्बन्धसोन्मेषमरुन्मिषेण ।
शान्तोपतापा सचिवेन तेन, सन्तोषतः श्वासमिव व्यमुञ्चत् ॥ ८
अस्मान् सुखेनोत्तरतु भ्रमन्ती, कीर्तिस्तदीयेति कृशास्तटिन्यः ।
बभूवुरासामसदेतदन्तः, सा हि क्षमा सागरलङ्घनेऽपि ॥ ९
प्रतापिनः पल्लवितप्रतापः, शुचिः शुचित्वाधिगतप्रसिद्धेः ।
कविप्रियोऽसौ प्रथयाञ्चकार, निन्दां निदाघस्य जडप्रियस्य ॥ १०
पीयूषबिन्दुप्रसवं स्रवन्ती, गुणावलिर्यस्य गलन्तिकेव ।
स्थितोपरिष्टादपि विष्टपस्य, प्रीतिं प्रतप्तस्य तदा ददाति ॥ ११
ऋतुर्दिगन्ताक्रमणोद्यतस्य नयन्नयं बुद्धिमिनस्य तेजः ।
तेनाभविष्यत् सचिवेन तुल्यः, प्रजोपतापं यदि नाकरिष्यत् ॥ १२
संशोषिताशेषनदे निदाघे, मन्त्रीशदृष्टिः कमलाभिरामा ।
तृष्णापहारं न चकार कस्य, प्रपेव सन्मार्गमुपागतस्य ? ॥ १३
पुण्ड्रेक्षवः क्षीणरसाः सरस्यः, शुष्का विशुष्काश्च गवां समूहाः ।
चूतद्रुमो वा सचिवोत्तमो वा, तदाऽर्थिसार्थं सफलीचकार ॥ १४

---

१ **स्वस्थी** प्र० ॥ २ **प्रदीपः** मु० ॥ ३ **जलप्रि°** वा० ॥ ४ **ऋतु°** मु० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरक्षितस्याथ पुरस्य तस्य, वैशेषिकीं वीक्षितुमेष शोभाम् ।
इष्टां नमस्कर्तुमनाश्च देवीं, श्रीवस्तुपालः सचिवश्चचाल ॥ १५

प्रसर्पतः प्रोषितगर्वभावात्, परिच्छदो यद्यपि तस्य तुच्छः ।
स्त्रीभिः कृताः प्रेक्षणकाङ्क्षिणीभिस्ते सङ्कटा राजपथास्तथापि ॥ १६

तं राजवीथ्यामथ सञ्चरन्तमालोकयन्त्यः पुरलोककान्ताः ।
दातेति पातेति जेयीत्ययीति, क्षमीति वाग्मीति भृशं शशंसुः ॥ १७

मनोरमाकारममात्यमेतमिवोपगन्तुं हृदयानि तासाम् ।
चक्रुः पुरस्तादुपढौकनाय, फलद्वयं चारुकुचद्वयेन ॥ १८

तमन्तिके यान्तमवेत्य बन्दिशब्दैरथ द्रष्टुमगारगर्भात् ।
द्रुतं प्रयान्ती रसनानिनादैराकारयत् काऽपि सखीरिवान्याः ॥ १९

जवेन यान्त्यास्तदवेक्षणाय, कस्याश्चिदम्भोजनिभेक्षणायाः ।
काञ्ची सखीभिर्विधृता गलन्ती, नितम्बतो न स्थिरता तु चित्तात् ॥ २०

तदा तदालोकनलोलदृष्टिः, संवृण्वती स्वाङ्कमंशुकेन ।
हृत्कोटरान्तर्निहितस्फुलिङ्गमनङ्गमन्या प्रकटीचकार ॥ २१

तेनाङ्गना प्रत्यवलोकिताऽन्या, त्रपातिभारेण भृशं नमन्ती ।
रराज कन्दर्पकिरातमुक्तसमापतन्मार्गणवञ्चिनीव ॥ २२

परा स्मरावेशनिवेशिताश्रुः, प्रयुक्तनेत्रद्वितयाञ्जनाऽपि ।
सुधानिधानं सचिवप्रधानं, नालोकितुं सम्यगलम्बभूव ॥ २३

न पुष्पचापादपरोऽस्ति चापी, यस्मादमात्यप्रणयोन्मुखीनाम् ।
न कञ्चुके किञ्चन वेधचिह्नं, भिन्नं मनस्तेन घनस्तनीनाम् ॥ २४

लज्जावती तं प्रति काऽपि बाला, जालान्तरालेन दृशं मुमोच ।
इषुर्ययाऽजीयत वप्रमारमार्गागतः कामचमूचरस्य ॥ २५

तद्दर्शिनीनां हृदि सुन्दरीणां, मनोभवक्ष्माधवकेलिसौधे ।
प्रभूतदुर्वारपरिच्छदोऽपि, लेभे प्रवेशं सचिवेन्दुरेकः ॥ २६

मन्त्रीशमालोक्य सुलोचनानां, स्वभावलोलान्यपि लोचनानि ।
नान्यत्र कुत्रापि गतिं वितेनुर्गुणैस्तदीयैरिव सन्दितानि ॥ २७

श्रीखण्डमत्युत्सुकया कयाचिद्, देहैकदेशे निहितं ततोऽपि ।
घर्माम्भसा मृष्टममात्यदृष्टाविष्टापिरल्पाऽपि जडादपैति ॥ २८

समीपमाजग्मुषि तत्र मन्त्रिमधौ दधाने सुमनःसमृद्धिम् ।
रोमोद्गमोद्यन्नवमञ्जरिश्रीर्माकन्दमालेव परा व्यराजत् ॥ २९

---

१ °यी॰नयी° मु० ॥ २ °याती वा० ॥ ३ °णबन्दिनी° वा० ॥ ४ °न्तरेण[स्व]दृ° वा० ॥ ५ °र्गाङ्गतः वा० ॥ ६ °व बन्दि° मु० ॥ ७ °मोद्यमो° वा० मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्दामकामक्षितिपाज्ञयेव, क्रियान्तराण्यर्द्धकृतानि मुक्त्वा ।
स्त्रीणां गणः श्रीकरणप्रधानममुं समालोकत सावधानः ॥ ३०
खिन्नाऽध्वनि श्रोणिभरेण तावदेथ व्रजन्तं सचिवं विलोक्य ।
काऽपि प्रयातुं पदमप्यशक्ता, सहामुना स्वं प्रजिघाय चेतः ॥ ३१
ग्रहैः शुभैः सत्यममात्यशम्भुर्दृष्टः स दृष्ट्या परिपूर्णयैव ।
पुराङ्गनानामनुरागिणीनां नेत्रत्रिभागेन निभालितो यत् ॥ ३२
तत्कालमुन्मीलितमीनकेतुज्वरातुराणां पुरसुन्दरीणाम् ॥
अदत्त चित्तं न स दान्तचित्तस्तद्धर्मपत्न्याः प्रथमं हि दत्तम् ॥ ३३
रेमे न रम्येऽपि वधूजनेऽत्र नेत्रद्वयं मन्त्रिमतल्लिकायाः ।
न तादृशास्तादृशसंयमेषु, प्रलोभनाय प्रभवन्ति भावाः ॥ ३४
अथाऽऽशिषः सैष नतेन मूर्ध्ना गृह्णन् वितीर्णाः कुलबालिकाभिः ।
विभूषितस्तम्भपुरोपशल्यामेकल्लवीरां प्रददर्श देवीम् ॥ ३५
तां सप्तलोकप्रणतां प्रणन्तुं, जगाम दूरे स दुरापकीर्तिः ।
न वेत्ति विद्वानपि संवसन्तीं, वाणीस्वरूपेण निजे मुखाब्जे ॥ ३६
दुग्धेन दध्ना मधुना घृतेन, खण्डेन तोयेन च शुद्धमूर्तिम् ॥
आनर्च देवीं सचिवः प्रसून-कर्पूर-कृष्णागुरु-चन्दनाद्यैः ॥ ३७
चकार देवीवदनारविन्दे, स दन्तपङ्क्तिं घनसारखण्डैः ।
हर्षं वहन्ती हृदि सप्रकर्षं, साक्षात् सहासेव बभौ यया सा ॥ ३८
नैवेद्यवृन्दैरनवद्यवृत्तैः, शिष्टानुकूलश्च दुकूलकूटैः ।
धूपैरयं भूपसभानुरूपः, प्रसादयामास दयाश्रयस्ताम् ॥ ३९
नुत्या च नत्या च विशेषवत्या, देवीं समानीय मुदं स मानी ।
श्रीवीरभूपालकृपाणदण्डे, स्थितिं ययाचे हृदि च स्वकीये ॥ ४०
अथोष्मणि ग्रीष्मसमुत्थितेऽन्तर्देहं स्मास्कन्दति देहभाजाम् ।
शङ्के समग्रोऽपि रसः सशङ्कः, स्वेदाम्बुदम्भेन बहिर्बभूव ॥ ४१
चण्डद्युतौ मण्डयति द्युमध्यं, मध्यन्दिनोद्दीपितदीप्तिदप्ते ।
समं स मन्त्री गुणिनां गणेन, क्रीडावनं प्राप सनीडवर्ति ॥ ४२
मन्त्री तदासाद्य वनं ननन्द, ग्रीष्मे महीं शोषयितुं स्थिते यत् ।
भ्रमद्घटीसङ्घटितारघट्टखाट्कारशब्दैः प्रतिगर्जतीव ॥ ४३
दीर्घैर्निदाघस्य दिनैर्मनोभूरलब्धसिद्धिर्भजति स्म सम्यक् ।
वनस्य तस्यातिघनद्रुमस्य, च्छायातमीं तारकितां प्रसूनैः ॥ ४४

---

१ °दध ब्र° मु० ॥ २ °र्णयेव मु० ॥ ३ °न विलोकितो वा० मु० ॥ ४ °पत्न्या प्र° वा० ॥ ५ °लकामिनीभिः प्र० ॥ ६ हास्येव वा० मु० ॥ ७ °डकीर्त्ति वा० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमात्यमत्यर्थमपास्तदौस्थ्यं, पिकाङ्गनाकूजितकैतवेन ।
उल्लासिमल्लीमुकुलाग्रदंत्यः, सत्यं स्तुवन्ति स्म वनाधिदेव्यः ॥ ४५
हिमासहोऽयं समयस्तमित्रहिंस्रः सहस्रांशुरिमौ समेतौ ।
मत्वेव ते भीति-रती प्रविष्टे, छायाविशिष्टं वनदुर्गमेतत् ॥ ४६
लीलावनेऽस्मिन् नवमेघलीलामरन्दबिन्दुप्रकरं किरन्तः ।
विनाऽपि वर्षासमयेन हर्षं, शिखण्डिनां ताण्डवयन्ति वृक्षाः ॥ ४७
स एव घर्मांशुकरानुषङ्गादङ्गानि पुंसां पवनो दुनोति ।
धिनोति सद्वृक्षवनोपसेवी, सङ्गः कुलीनैरत एव युक्तः ॥ ४८
प्रकल्पितायां क्षितिकल्पवृक्षो, द्राक्षालतामण्डपवेदिकायाम् ।
कृतोपवेशः स चकार गोष्ठीमनिष्ठुरोक्तिप्रसरैः कवीन्द्रैः ॥ ४९
केचित् कुलं भीतिनिराकुलस्य, कृतावदानस्य परे च दानम् ।
मान्यत्वमन्ये विनिवृत्तमन्योर्व्याचख्युराख्येयगुणस्य तस्य ॥ ५०
कवीन्द्रशैलेन्द्रविनिर्गतानां, सरस्वतीनां प्रसृतान् प्रवाहान् ।
आरुह्य भूमण्डलमासमुद्रमियर्ति मन्त्रीश्वरकीर्तिहंसी ॥ ५१
कवीश्वराणां प्रगति स्म वाणी, कर्णद्वयं कर्णसमस्य तस्य ।
सोऽपि प्रमोदं हृदयेषु तेषामुदारपाणी रचयाञ्चकार ॥ ५२
दत्ते स्म तेभ्यः सचिवः कविभ्यः, प्रभूतमत्यद्भुतकीर्तिरर्थम् ।
आदत्त चिद्रूपतया निगूढमप्यर्थलेशं तु तदुक्तसूक्तात् ॥ ५३
मनीषिणां मानसमन्दिरेषु, श्रीमानमात्यो निवसन्नजस्रम् ।
तेभ्यः स कल्पं वितरत्यगण्यहिरण्यविश्राणनकैतवेन ॥ ५४
तस्मिन् वने सत्कविवक्त्रयन्त्रविनिर्गतेन श्रवणामृतेन ।
संसिच्यमानः सचिवः प्रधानमह्नाय मध्याह्नमयं निनाय ॥ ५५
आशायामशिशिरधाम्नि पश्चिमायामायाते सुकृतवतामपश्चिमोऽसौ ।
तान् कृत्वा धनकनकैः कवीन् कृतार्थानावासं स्वमभि चचाल वस्तुपालः ॥ ५६

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये पुरप्रमोदवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

---

१ °दन्त्यः वा० मु० ॥ २ तदीयस्य° मु० ॥ ३ °मोदो नाम प्र० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तमः सर्गः ।

अथोदयति निर्दोषे, सचिवेन्दौ नवे रवौ । कोक-कोकनदानन्दि, मन्दिमानमगान्महः ॥ १
गम्यः सोऽपि जगच्चक्षुश्चक्षुषां समपद्यत । कः कालवलनेनात्र, निस्तेजा नहि जायते ? ॥ २
लौहित्यं विद्रुमालीषु, द्रुमालीपल्लवेषु च । अधिकं निदधे ब्रध्नः, किरणैः कुङ्कुमारुणैः ॥ ३
शुशुभे दिक्षु सर्वासु, प्रज्वलत्तपनोपलः । शिरस्थरविरस्ताद्रिः, पञ्चाग्निव्रतवानिव ॥ ४
वियोगव्यथया वीक्ष्य, साक्रन्दां चक्रकामिनीम् । प्रम्लाना सहसंवासस्नेहेनेव सरोजिनी ॥ ५
मित्रेऽस्तमागते दुःखादब्जैः प्रागान् जिहासुभिः । शालिग्रामशिलेवालिव्याजादारोपिता हृदि ॥ ६
न मित्रमन्तरेणापि, क्षणमभ्यासवासरः । भवत्यव्यभिचार्येव, सङ्गतं गतदोषयोः ॥ ७
प्रतापः प्राप मन्दत्वं, वारुणीसेवया रवेः । भवेत् प्रभावभङ्गाय, महतोऽपि हि दुष्कृतम् ॥ ८
निश्चला कस्य वाऽन्यस्य, भुवने श्रीर्भविष्यति ? । आसीद् वसुविहीनोऽसौ, यदह्नामपि नायकः ॥ ९
अपि तादृशमस्ताद्रिर्दिनेशं निरकाशयत् । चिरं न ह्याश्रयः क्वापि, प्राप्यते दिवसात्यये ॥ १०
कुलायमाकुलाः सर्वे, पक्षिणस्तत्क्षणादयुः । कस्त्यजत्यथवा पस्त्यं, सत्यां सवितुरापदि ? ॥ ११
वनान्ताद् वलमानेन, कुलेनोद्गमितैर्गवाम् । पांसुभिर्मलीभूतं, कुतोऽप्याविरभूत् तमः ॥ १२
समन्ततोऽपि काष्ठानां, प्लुष्टानां चित्रभानुना । धूमेनेव तमिस्रेण, प्रसस्रे गगनाङ्गणे ॥ १३
मुक्त्वा निःश्रीकमप्यब्जं मराली न गताऽन्यतः । भ्रमराली त्वगाद् वेगादिदं सदसदन्तरम् ॥ १४
त्रैलोक्यदीपके देवे, लोकान्तरमुपेयुषि । तमस्तान्तमभूद् विश्वं, कः सुखी महदापदि ? ॥ १५
गते भानौ स्थिते ध्वान्ते, पद्मिन्या साधु मीलितम् । दुरीक्षा महतामापदसतामुन्नतिश्च यत् ॥ १६
स्थित्वाऽथ प्रस्थिता सन्ध्या, व्रजद्वाजिव्रजाकुला । आक्रामतः परं लोकं, रवेः पश्चाच्चमूरिव ॥ १७
ससन्ध्या-वासरं सूर्यं, मत्वा देशान्तरं गतम् । जाया-ऽनुजान्वितं राममिव म्लानमभूज्जगत् ॥ १८
क गतः सविता ? ध्वान्तमेतदप्यागतं कुतः ? । एवं सविस्मयेव द्यौः, स्फारतारमवैक्षत ॥ १९
दीपकां अपि दीप्यन्तां, स्फुरन्तु तिमिराण्यपि । तद् गतं हि सजातीय-विजातीयासहं महः ॥ २०
स्रष्टुः सृष्टिर्विचित्रेयं, यस्मात् सङ्केतवर्त्मना । पियानभिसरन्तीनां, प्रकाशकमभूत् तमः ॥ २१
प्रदोषानन्तरं चन्द्रोदयादर्वाग् मृगीदृशाम् । मुहूर्तमभिसाराय, मारमौहूर्तिकोऽब्रवीत् ॥ २२
सुरतव्रतचर्यायै, पर्यङ्कादपि सज्जितात् । पांशुलानामभूत् पांशुतल्पतीर्थं यथाधिकम् ॥ २३
नीरन्ध्रेणान्धकारेण, रोदसी सम्पुटीकृते । अद्योद्घाटयितुं कोऽपि प्रवृत्त इव पूर्वतः ॥ २४
रचितोपक्रमे राज्ञि, चक्रमाक्रमितुं दिशाम् । प्रभादम्भेन नासीरमाविरासीत् पुरः स्फुरत् ॥ २५
रोहिणीरमणं वीक्ष्य, रागादागतमन्तिके । सस्मितेव तदुद्योतदम्भादभवदिन्द्रदिक् ॥ २६
अथोज्जगाम सामन्तः, कुसुमास्त्रमहीपतेः । शृङ्गारस्य जयोद्गारबन्दी कुमुदबान्धवः ॥ २७

---

१ °णात्र, क्ष° प्र० ॥ २ °वा यस्य, स° वा० । °वा यन्नं, °ज° प्र० ॥ ३ °स्तरे ग° प्र० ॥ ४ दीपिका मु० ॥ ५ यथाधि° प्र० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आविर्बभूव पूर्वस्माद्द्रेश्चन्द्रः शनैः शनैः । तदीयैस्तटमाणिक्यकिरणौघैरिवारुणः ॥ २८
चकार तारिकारोचिरङ्कुरोत्करकैतवात् । करस्पर्शेन रागिण्याः, सोमो रोमोद्गमं दिवः ॥ २९
पुंश्चलीनां तपश्छिद्रं, समुद्रस्य महोत्सवः । रससिद्धिरनङ्गस्य, दिवमिन्दुरगादगात् ॥ ३०
मालिन्यं मार्जयामास, चन्द्रमास्तिमिरैः कृतम् । खलैर्दत्तं मृषादोषमिव सत्पुरुषः सताम् ॥ ३१
व्योमाङ्गणविकीर्णानि, तमांसि तुहिनद्युतिः । ममार्ज रुचिमार्जन्या, कुलटाकुलकण्टकः ॥ ३२
न मृगाङ्के कलङ्कोऽयं, कस्तूरीतिलकाकृतिः । निर्दग्धो नीलकण्ठेन, तिष्ठत्येष झषध्वजः ॥ ३३
दिवि स्वर्वाहिनी हंसैर्दिक्षु दन्तैश्च दन्तिनाम् । मेदुराऽजनि मेदिन्यां, कौमुदी कौमुदैर्वनैः ॥ ३४
कणेहत्य चकोरीणां गणः पीत्वा सुधासवम् । अजायत मदेनेव, गुञ्जापुञ्जारुणेक्षणः ॥ ३५
मरीचिनिचये चान्द्रे, सति सान्द्रे समन्ततः । घटितं विष्टपं दन्तसन्तत्या दन्तिनामिव ॥ ३६
शान्तध्वान्त-घनस्तोमे, कौमुदी-शरदागमे । हृदि श्यामोऽन्यतः श्वेतश्चकाशे चन्द्रखञ्जनः ॥ ३७
चन्दनैश्चर्चितेव द्यौर्दिशः काशैरिव श्रिताः । क्षीरेण क्षालितेवोर्वी, शर्वरीशे विराजति ॥ ३८
पीयूषपायसैः प्रीतं, चकोरद्विजसञ्चयम् । श्रेयोऽर्थं मन्मथस्येव, चकार शिशिरद्युतिः ॥ ३९
सन्दोहैरिन्दुकान्तानां, तदा सम्भवदम्भसाम् । प्रीतये चैत्रमित्रस्य, चन्द्रश्चक्रे प्रपा इव ॥ ४०
तरुणे तारकाध्यक्षे, वृक्षच्छाया विरेजिरे । तमसः खण्ड्यमानस्य, प्रतीकाः पतिता इव ॥ ४१
रमयत्यखिलामुर्वीमचण्डद्युतिमण्डले । कन्दर्पनृपते राज्यमेकच्छत्रमिवाभवत् ॥ ४२
सान्द्रे चन्द्रातपे तत्र, स्फुरद्भिः कैरवाकरैः । क्षीरनीरधिडिण्डीरपिण्डानां पाण्डिमा जितः ॥ ४३
नीलाब्जमधुमत्तालिकुलकोलाहलैरिव । मानसे मदिराक्षीणां, प्रबुद्धः कुसुमायुधः ॥ ४४
अनल्पाक्षीभिराकल्पास्तेनिरे तदनन्तरम् । विजिगीषोरनङ्गस्य, सन्नाहाः सुभटैरिव ॥ ४५
ज्योत्स्नाजलनिमग्नायाः, कस्याश्चित् कुञ्चितभ्रुवः । शरीरे चन्दनं गौरे, सौरभ्यादन्वमीयत ॥ ४६
सर्वत्र व्यक्तशक्तीनां, तुषारद्युतिरोचिषाम् । जगाम वामनेत्राणां, केशपक्षो विपक्षताम् ॥ ४७
विधृता विश्ववन्द्येन, या शिवेनापि मूर्धनि । सा ज्योत्स्ना सुदृशां केशहस्तेन गलहस्तिता ॥ ४८
लग्नः पादेषु कान्तानां, नखान्तः प्रतिमामिषात् । याचितुं वक्त्रलावण्यकणिकामिव चन्द्रमाः ॥ ४९
कबरी कैरवाक्षीणां, कबरा केतकीदलैः । हसन्तीव व्यभादाभां, विलक्षामेणलक्ष्मणः ॥ ५०
यामिन्यामिन्दुशुक्लायां शुक्लवस्त्रावगुण्ठनाः । धम्मिल्लोद्भावितं विघ्नं, विजघ्नुरभिसारिकाः ॥ ५१
वधूनां वक्त्रमाविद्धं, रत्नकुण्डलकान्तिभिः । प्रियेषु सविलम्बेषु, रोषारुणमिव व्यभात् ॥ ५२
ताडपत्रश्रिया न्यस्तनीलाश्मगणवर्णया । पुस्तिकेव चकास्ति स्म, काचित् कामविपश्चितः ॥ ५३

कुचौ सुवृत्तौ धृतहारयष्टी, सकञ्चुकौ रेजतुरम्बुजाक्ष्याः ।
रतेः स्थितायाः हृदि रक्षणाय, स्मरप्रयुक्ताविव सौविदल्लौ ॥ ५४

आकल्पिता शोभितकेलिशय्या, नियुद्धभूमीव वधूवरस्य ।
तत्रोपधानच्छलतो बभूव, निवेशवेदी स्मरपार्थिवस्य ॥ ५५

---

१ तदीयतट° वा० ॥ २ तारका° प्र० ॥ ३ धारसम् मु० ॥ ४ °रिवाश्रि° वा० ॥ ५ इति वा० मु० ॥ ६ सुनाहाः वा० ॥ ७ °नं पौरैः, सौ° मु० ॥ ८ °न, श्रीशि° मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकावली वक्षसि विस्फुरन्ती, रराज राजीवविलोचनायाः ।
चेतःशरव्यावेधिबोधहेतुर्लेखा खटिन्येव कृता स्मरेण ॥ ५६

दीपप्रभापिञ्जरितानि रेजुरल्पोदरीणां रतमन्दिराणि ।
आपूर्य चित्तान्यतिरिच्यमानैः, प्रियानुरागैरिव पूरितानि ॥ ५७

कुरङ्गनाभीकृतपत्रभङ्गी, कुचद्वयी चारुदृशश्चकाशे ।
सुप्तोत्थितस्य स्मरकुञ्जरस्य, मदाम्बुसिक्ता शयनस्थलीव ॥ ५८

माणिक्य-मुक्ताफल-काञ्चनानां, काचिन्मरीचिप्रचयार्चिताङ्गी ।
खरांशु-शीतांशु-हुताशनानां, महःसमूहैः पिहितेव रेजे ॥ ५९

ताम्बूल-वस्त्रा-ऽऽभरण-प्रसून-श्रीखण्डसंस्कारसमाकुलाभिः ।
सुलोचनानां परिचारिकाभिरसूच्यत श्रीतनयोत्सवश्रीः ॥ ६०

नवं वयश्चित्तमपेतचिन्तमिन्द्रः सुधांशुर्मधुरा परिस्रुत् ।
सख्योऽनुकूलाश्च विलासिनीनां खिदे तदा कान्तविलम्ब एव । ६१

अनिच्छतीनां निजमानभङ्गं, सङ्गं प्रियैः सत्वरमिच्छतीनाम् ।
अथेङ्गितज्ञस्य मनस्विनीनां, दूतीजनस्यावसरो बभूव ॥ ६२

विद्वानपूर्वः सितरोचिरेषः, कृतव्यलीकैः सह कामुकैर्यः ।
लुप्ते प्रकोपेऽथ विसर्जनीये, सन्धिं विधत्ते स्म वधूजनस्य ॥ ६३

विभिन्नयोरह्नि रुषा रजन्यामुदञ्चदुच्चैरनुतापयोश्च ।
स्त्री-पुंसयोः सङ्गमनच्छलेन, प्रागप्रदा काऽपि बभूव भूयः ॥ ६४

मानार्गलां काऽपि विलङ्घ्य वेश्म, गन्तुं प्रवृत्ता दयितस्य यावत् ।
तावत् स एव स्वयमाजगाम, कामः किमिष्टं न करोति तुष्टः ॥ ६५

विलासवेश्माङ्गणभागतेषु, कृतापराधेष्वपि वल्लभेषु ।
मनस्विनीनामथ मानमुद्रां, भ्रूभङ्गशेषामकरोदनङ्गः ॥ ६६

निष्कास्य कामः प्रसभं प्रकोपं, पुनः प्रवेशं प्रतिषेद्धुमस्य ।
अङ्गानि सारङ्गविलोचनानां, चक्रे स्फुटं कण्टकवेष्टितानि ॥ ६७

किं नेत्रमार्गेण मनोज्ञरूपा, कर्णाध्वना वा मधुरं वदन्ती ।
नासापथेनाथ सपुष्पवासा, प्रियस्य चित्ते प्रविवेश काचित् ॥ ६८

अगस्तिभिः संव्यवहार्यतां गतैरनुज्ञयेव द्विजचक्रवर्तिनः ।
कान्तैः समं कान्तविलोचनाजनः, परिस्रुतं पातुमथोपचक्रमे ॥ ६९

कन्दर्पकेलिप्रथमप्रयोगसञ्जातलज्जामुकुलीकृतानि ।
तदा मदेन प्रकटीबभूवुर्भुग्नभ्रुवां विभ्रमचेष्टितानि ॥ ७०

---

१ °धिवेध° प्र० ॥ २ भङ्गः प्र० । भङ्गिं वा० ॥ ३ नदन्ती मु० ॥ ४ °मथ पचक्र° प्र० ॥
५ °वुर्वामभ्रुवां प्र० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असार्थं कन्दर्पगुरूपदेशा[1]मवं महानन्दमिवाङ्गनाभिः ।
व्याावृत्तवस्त्वन्तरवासनाभिः, कृता किरीटेऽपि पतत्युपेक्षा ॥ ७१
मेदाकुलानि प्रमदाकुलानि, विरेजुरापानगृहाङ्गणेषु ।
हृदि प्रविष्टस्मरचित्रपुङ्खदुःखादिवोद्घूर्णितमस्तकानि ॥ ७२
अधरैरधरीकृतं वधूनां, मधुमाधुर्यमवैमि विद्रुमाभैः ।
दयितैरत एव तेषु पानप्रतिपत्तिर्विहिता विहाय हालाम् ॥ ७३
परिजनैः प्रथमं गतमन्तिकादपसृतं वसनैर्जघनादथ ।
तदनु यातमथ त्रपया हृदः, स्थितमिहात्मभुवैव नतभ्रुवाम् ॥ ७४
आलिङ्गितायाः सुभगेन गाढमुद्गूढरम्भादलमार्दवेभ्यः ।
स्वेदोदबिन्दुच्छ[2]लतोऽपरस्याः[3], सुस्राव लावण्यमिवाङ्गकेभ्यः ॥ ७५
सकलमपि वपुर्विभिद्यमानं, मदनशरैरवलोक्य कामिनीनाम् ।
शरणमिव रदच्छदः प्रपेदे, प्रियवदनं यदलं प्रसह्य पातुम् ॥ ७६
मैरेयपानच्युतचेतनानां, तासामसाधारणविभ्रमाणाम् ।
नखाङ्कुशैरप्यनवाप्तसंज्ञो, गम्भीरवेदी मदनद्विपोऽभूत् ॥ ७७
आह्वातुं विषमशरं[4] पुरोऽनुवाको, दोर्वल्लीवलयरवोऽभवद् वधूनाम् ।
तद्यज्वा मणितमभूच्च[5] मोहनाग्निष्टोमेऽस्मिन् मधुमधुराधरौष्ठसोमे ॥ ७८
निगदितुं विधिनाऽपि न शक्यते, सुभटता कुचयोः कुटिलभ्रुवाम् ।
सुरतसंयति यौ प्रियपीडितावपि नतिं न गतौ च्युतकञ्चुकौ ॥ ७९
उपरतसुरतश्रमक्रियामासमयविराममनोरमैर्मरुद्भिः ।
सरसनखपदे हृदि प्रियाणामथ शयितः कृशमध्यमासमाजः ॥ ८०
अवनमदमृतांशुबिम्बमौलिर्गलितवया इव शर्वरी व्यराजत् ।
अभजत ककुभं च जम्भजेतुर्जतुरसरक्त इव प्रभाप्रवाहः ॥ ८१
यातः शीतरुचिः प्रतीचिजलधौ डिण्डीरपिण्डच्छवि–र्जृम्भारम्भमनोरमा कमलिनी सुप्तोत्थितेवाभवत् ।
वक्रत्वं च विधिर्विधूय सदयं चक्रेषु चक्रे मनः, सौरेणाजनि कुङ्कुमारुणमिव प्राचीमुखं रोचिषा ॥ ८२
देवोऽयं भुवनत्रयैकनयनं प्राप्तः प्रभाणां प्रभुः, कर्ता यः कमलोदयं जगदिदं मोहाम्बुधेरुद्धरन् ।
प्रातस्त्यः समयो वयोविरुतिभिर्व्योमेति वर्धापय–न्नाचिच्छेद तदीयमन्धतमसव्याजेन संव्यानकम् ॥ ८३

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये चन्द्रोदयवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

१ महांकु° मु० ॥ २ °बिम्बच्छ° वा० ॥ ३ °लतः पर° प्र० ॥ ४ कुसुमशरं मु० ॥ ५ वाक्या,°को°.वा० मु० ॥ ६ तद्याज्या मणि° वा० मु० ॥

अष्टमः सर्गः ।

अथ पाथोजिनीनाथे, चुम्बत्याशां बिडौजसः । प्रबुद्धं पङ्कजेनेव, श्रियः पात्रेण मन्त्रिणा ॥ १
कोकद्वन्द्वं तदाऽऽलोक्य, सङ्गतं सम्ममाद सः । परकष्टे विनष्टे हि, सतां प्रीतिः प्रचीयते ॥ २
उन्मादं वीक्ष्य पद्मानां, कुमुदानां च मन्दताम् । क्षणिकत्वं विभूतीनां, चेतसा निश्चिकाय सः ॥ ३
कदाप्युदयति ध्वान्तं, कदाप्यर्कश्च धिग् विधिम् । तुल्यं नीचेऽप्यनीचेऽपि, स तदेति व्यतर्कयत् ॥ ४
करं चिक्षेप तीक्ष्णांशुर्दुस्तरे तिमिराम्बुधौ । प्रदातुमिव मग्नस्य, भुवनस्यावलम्बनम् ॥ ५
विच्छायास्तिमिरे तुच्छे, रेजुर्दीपाश्चलच्छिखाः । पङ्क्तीभूते पयःशेषे, स्फुरन्तः शफरा इव ॥ ६
तीक्ष्णैः सपदि भिन्दानः, कराग्रैस्तिमिरासुरम् । रोषेणेवारुणः पूषा, प्रादुरासीन्नृसिंहवत् ॥ ७
अथोज्जगाम वामत्वं, कुमुदेषु प्रदर्शयन् । विष्टपव्यवहारैकप्राड्विवाको दिवाकरः ॥ ८
मलिनीभवदाशान्ते, शान्ते ध्वान्तघनोदये । अब्जावतंसितं हंसो, नभःकासारमासदत् ॥ ९
न्यासीकृताः परं देशं, गच्छता भास्करेण याः । स्फुटं स्फटिकभूर्वह्निः, प्रतिदत्ते स्म तां विभाः ॥ १०
विवृतिर्विश्वसूत्रस्य, दृशां निस्तिमिरौषधी । इष्टवार्ता च पद्मानां, दिद्युते द्युमणिद्युतिः ॥ ११
चकोरचक्रवालस्य, पीतशीतज्वरोदयाः । तमश्चक्रमधश्चक्रुश्चण्डरोचिर्मरीचयः ॥ १२
प्रसारितकरे सूरसिन्धुरेन्द्रेऽनुधावति । सुमेरुं परिबभ्राम, तमस्तोमः पुरःसरः ॥ १३
कुर्वाणः किरणाङ्कूरैरवतंसश्रियं दिशाम् । नभस्त्रिभागमागच्छदब्जिनीजीवितं विभुः ॥ १४
विलोललोचनाः प्रातर्मौलिमाल्यानि तत्यजुः । लोके हि कारणेनैव, गौरवं गुणिनामपि ॥ १५
हृदि प्रियवियुक्तानां, साञ्जना बाष्पबिन्दवः । मग्नानां मारबाणानां, पुङ्खा इव विरेजिरे ॥ १६
बभ्राजे भुजगाभासं, त्रासयंस्तिमिरोत्करम् । सुवर्णरुचिराकारः, सुपर्ण इव भास्करः ॥ १७
अथ धर्मैकनिष्णातो, निस्नातः शुचिभिर्जलैः । **वस्तुपाल**स्त्रिकालज्ञं, जगत्पूज्यमपूजयत् ॥ १८
वलक्षेणोत्तरीयेण, स बभौ बुद्धिमत्तरः । तुरीययुगभीतेन, सुकृतेनेव संश्रितः ॥ १९
मत्सरज्वरसन्तप्तं, मन्ये मुक्त्वाऽन्यमानसम् । **आदिनाथः** स्थितस्तस्य, हृदि सौहार्दशीतले ॥ २०
भाले तस्य विभाति स्म, चान्दनी तिलकाकृतिः । कृता सुकृतिनां मध्ये, रेखा मुख्येव वेधसा ॥ २१
अलिङ्गितः शमेनेव, पृथग्भूतः कलेरिव । सद्वृत्तेनेव निर्वृत्तः, स तदा शुशुभे भृशम् ॥ २२
देवेन्द्रं स्तुवतस्तस्य, रेजुर्दशनदीप्तयः । तत्कालोन्मीलितानन्दसुधांशुकिरणश्रियः ॥ २३
दत्त्वा दानानि पात्रेभ्यो, नत्वा गुरुजनं च सः । सत्त्वाश्रितेन चित्तेन, भवं भावितवानिति ॥ २४
अहो ! संसारकारान्तर्मायानिगडितात्मनाम् । जायते जातु जन्तूनां, न कथञ्चन निर्वृतिः ॥ २५
केचिद् द्युम्नाय धावन्ति, प्रद्युम्नाय च केचन । नोद्युङ्क्ते कोऽपि धर्माय, सर्वाभिप्रेतहेतवे ॥ २६
मोदमानोऽन्तरात्मैव, साक्षी यत्कर्म शर्मणे । तमप्युपेक्षते धर्ममहो ! मूढमना जनः ॥ २७
यस्मिन् सन्निहिते वह्नि-विषाद्याः प्रभवन्ति न । धर्मादप्यपरस्तस्मात्, कः शरण्यः शरीरिणाम् ? ॥ २८
धर्मसिद्धौ ध्रुवा सिद्धिर्द्युम्न-प्रद्युम्नयोरपि । दुग्धोपलम्भे सुलभा, सम्पत्तिर्दधि-सर्पिषोः ॥ २९

---

१ प्रनष्टे मु० ॥ २ एकीभू० प्र० वा० ॥ ३ ताः प्रभाः प्र० ॥ ४ मानान्त० वा० ॥ ५ नो प्र० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्चैर्गर्वे समारोप्य, नरं श्रीराशु नश्यति । दौःस्थ्यदत्तावलम्बोऽथ, स तस्मादवरोहति ॥ ३०
जितं लक्ष्मि ! त्वया यस्यै, जनस्तमपि सेवते । धनं निकारपूर्वं यत्, प्रदत्ते प्रेतनाथवत् ॥ ३१
धनस्याधर्मलब्धस्य, मुग्धो लाभेन तुष्यति । सुकृतस्य दुरापस्य, न तु हानिमवेक्षते ॥ ३२
असाद्यते यया स्वर्गः, श्रिया सन्मार्गदत्तया । त्यक्त्वा तामप्यधर्मेण, मूर्खाः क्रीणन्ति दुष्कृतिम् ॥ ३३
स्वयमुत्पादितां लक्ष्मीं, पुत्रीमिव मनीषिणः । दत्त्वा पात्राय तद्दानफलमेवोपभुञ्जते ॥ ३४
पित्राद्यैरुपभुक्ता या, पुत्राद्यैरपि भोक्ष्यते । कामयन्ते न तां सन्तो, ग्रामवेश्यामिव श्रियम् ॥ ३५
तस्करैर्वा दुरीशैर्वा, हृतं संसहते धनम् । कदर्यो नैव सत्कार्ये, कल्पयत्यल्पमप्यदः ॥ ३६
अन्धा एव धनान्धाः स्युरिति तथ्यं तथाहि ये । अन्योक्तेनाध्वना गच्छन्त्यन्यहस्तावलम्बिनः ॥ ३७
धनी धनात्यये जाते, दूरं दुःखेन दूयते । दीपहस्तः प्रदीपेऽस्ते, तमसा बाध्यतेऽधिकम् ॥ ३८
आदावेव विकारं यः, प्रदर्शयति देहिनाम् । भवोच्छेदैकभावेभ्यो, विभवः स्वाद्यते स किम् ? ॥ ३९
न संसारस्य वैरस्यमिदं वेत्ति जडो जनः । यत् सुखं स सुखाभासो, यद् दुःखं दुःखमेव तत् ॥ ४०
रमयन्ति मनस्तावद्, भावाः संसारसम्भवाः । यावन्न श्रूयते साश्रुलोकैफूत्कारकाहला ॥ ४१
अहो ! देहभृतां मोहः, प्ररोहति महानयम् । यदेते सुखमिच्छन्ति, विषयैर्दुःखहेतुभिः ॥ ४२
छत्रच्छायाच्छलेनामी, धात्रा चक्रे निवेशिताः । भ्रमन्तोपि स्वमात्मानं, मन्वते स्थिरमीश्वराः ॥ ४३
मदान्धास्ते परं लोकं, कथं, पश्यन्तु भूभुजः ? । तमोमण्डलमध्यस्थाश्छत्रच्छायाच्छलेन ये ॥ ४४
सुखं विषयसेवेति, सक्तास्तत्रैव जन्तवः । यः प्रमोदस्तु तत्त्यागात्, तदास्वादः क्वचिद् यदि ॥ ४५
अवश्यं नश्वरे देहे, दुर्दमे, च यमे द्विषि । हास्यमास्याद् विनिर्याति, यत् पुंसामिदमद्भुतम् ॥ ४६
कालेन शौनिकेनेव, नीयमानो जनः पशुः । क्षिपत्येष विगासन्ने, मुखं विषयशाद्वले ॥ ४७
कायः कर्मकरोऽयं तन्मात्र कार्याऽतिलालना । भृतिमात्रोचितो ह्येष, प्रपुष्टो विचिकीर्षते ॥ ४८
प्रयोजकान्यकार्येषु, नश्यन्त्याशु महापदि । दुर्मित्राणीव खान्येव, बन्धुबुद्धिरधीमताम् ॥ ४९
योऽयं जीवितभूतेषु, स्नेहग्रन्थिः सुतादिषु । विभागावसरे पुंसां, व्यक्तः सोऽपि भविष्यति ॥ ५०
दुःखाग्निर्वा स्मराग्निर्वा, क्रोधाग्निर्वा हृदि ज्वलन् । न हन्त ! शान्तिमायाति, देहिनामविवेकिनाम् ॥ ५१
अविद्यामेव सेवन्ते, हन्त ! विद्यां व्युदस्य ये । ते दूत्यामनुरज्यन्ते, वरारोहाविहायिनः ॥ ५२
तटस्थः प्रेक्षते योगी, जगदस्मिन् भवार्णवे । मज्जनोन्मज्जने कुर्वद्, दुष्कृतैः सुकृतैर्निजैः ॥ ५३
विषयामिषमुत्सृज्य, दण्डमादाय ये स्थिताः । संसारसारमेयोऽसौ, बिभ्यत् तेभ्यः पलायते ॥ ५४
सत्यं संसृतिगर्तेयं, दुःखैः पूर्णा निरन्तरम् । यतस्तद्व्यतिरेकेण, नान्यत् किञ्चिदिहाप्यते ॥ ५५
विधौ विध्यति सक्रोधे, वर्म धर्मः शरीरिणाम् । स एव केवलं तस्मादस्माकं जायतां गतिः ॥ ५६

सुचिरमिति विचार्य पुण्यचर्यः, विदुषि चिकीर्षति तत्र तीर्थयात्राम् ।
विदधदथ पथैः प्रशान्तपङ्कान्, ऋतुरपनृत्तमयूरमण्डलोऽभूत् ॥ ५७

---

१ °म्बोऽधः, स मु० ॥ २ निकारः पूर्वो यस्मिन् निधनमिति भावः, तच्च मरणम् प्र० टि० ॥ ३ °मपेक्ष° वा० मु० ॥ ४ क्रीडन्ति वा० मु० ॥ ५ °धैरुपभो° प्र० ॥ ६ दुराशै° मु० ॥ ७ °ति सत्यं त° मु० ॥ ८ गाढम् प्र० टि० ॥ ९ स्वदते प्र० ॥ १० °कफूत्कारकाहलः मु० ॥ ११ हास्यं नास्या° वा० मु० ॥ १२ विभवाव° वा० मु० ॥ १३ °चर्यां मु० ॥ १४ पयःप्रशान्तपङ्कमृतुर° मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवमवरमिमं विमृश्य सम्यग्, गलितरसैर्विषयेषु वारिवाहैः ।
मुनिभिरिव निबद्धमौनमुद्रैर्गगनवनं विमलात्मभिश्च भेजे ॥ ५८
पतिरतितपति स्म वासराणामतिशुभेति स्म विभावरीभुजङ्गः ।
जलमतिभजति स्म निर्मलत्वं, मधुरमतिध्वनति स्म राजहंसी ॥ ५९
पुलिनपरिसरे सरस्वतीनामजनि समागमनं सुखञ्जनानाम् ।
भवति यदवलोकनादनाविष्कृतहसितारिमुखं सुखं जनानाम् ॥ ६०
क्षितिवलयजयोज्जिहानवीरा, क्रमविरमज्जलपूरसिन्धुतीरा ।
शरदवतरति स्म मत्तहंसा, दिशि दिशि काशकदम्बकावतंसा ॥ ६१
कुटजविटपिनः प्रसूनशून्यानलिपटलं परिहृत्य सप्तपर्णैः ।
सममरमत दन्तिदानगन्धैर्जगति समृद्धमुपैति सर्व एव ॥ ६२
विदलितजगदापदः पयोदाः, परिगलिताम्बुविभूतयो बभूवुः ।
अहह ! न सहते महीयसामभ्युदयमिमं नियतिश्चिरायवैरा ॥ ६३
घनमयसमयात्यये विनिद्रः, ऋतुपुरुषो भवतीति तथ्यमेव ।
दधतुरपरथा कथं विकाशं, दिनपति-रात्रिपती तदीयनेत्रे ? ॥ ६४
सरसिसुरभिः सरःसमीरः, कलमसमृद्धिसमुद्धता धरित्री ।
कलमपि कलहंसकामिनीनां, रसितमथ व्यथयाञ्चकार पान्थान् ॥ ६५
कलयति कलशोद्भवे प्रवेशं, मलयनगस्थगिते नभोविभागे ।
जगदगदमभूत् पयश्च पेयं, ननु महतामुदयो मुदे न कस्य ? ॥ ६६
स्तनितमुपरतं पयोधराणां, ध्वनिरजनिष्ट ककुद्मतां विशिष्टः ।
परिहृतमवनीतलं शिलिन्ध्रैर्जलमलमक्रियतारविन्दवृन्दैः ॥ ६७
गवलकुवलयप्रभैः पयोदैर्वियति वृते व्यथित व्ययं न यस्य ।
अधिपतिरतिमात्रमुष्णमह्नां, तदिव सुसञ्चितमुत्ससर्ज तेजः ॥ ६८
भासः सेव्याः श्वेतभासः प्रदोषे, लोकाह्लादोद्दीपिका दीपकाली ।
दुग्धैर्दिग्धा शर्करा यत्र पथ्यं, दिष्ट्या दिष्टः स प्रविष्टः पृथिव्याम् ॥ ६९
हंसानां नवनलिनीवनोत्सुकानामालापैरिव मुरजिन्मुमोच निद्राम् ।
जम्भारिस्त्रिभुवनभारमुत्थितेऽस्मिन्नारोप्य स्वधनुरथोपसञ्जहार ॥ ७०

स्वच्छं वारि निवारितामरधनुर्व्योम व्यपेताम्भसः, पाथोदाः समदा सितच्छदवधूराशाः सकाशाः पुरः ।
भाति स्म प्रथयन्नहम्प्रथमिकां तेजस्विषूत्तेजितः, श्यामाम्भोधरभस्मनेव शशभृद् दिक्कामिनीदर्पणः ॥ ७१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये परमार्थविचारो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

---

१ **विगलित°** वा० मु० ॥ २ **कमलस°** वा० मु० ॥ ३ **व्यथिते व्ययेन यस्य** मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवमः सर्गः ।

चिकीर्षिता श्रीसचिवेन तीर्थयात्राऽथ सोऽयं[1] समयः समेतः ।
महात्मनामीहितकार्यसिद्धौ, विधिर्विधत्ते हि सदाऽऽनुकूल्यम् ॥ १
धर्मैकमित्रोपनिमन्त्रणार्थं[2], तेनार्थिमित्रेण चराः प्रयुक्ताः ।
न केवलं स्वेन कृतार्थितेन, परैः कृतार्थैः कृतिनः कृतार्थाः ॥ २
रथानथाऽऽनन्दविसंस्थुलोऽयं, लोकः प्रयाणप्रवणांश्चकार ।
उपक्रमे पुण्यकृतां क्रियाणां, राभस्यमभ्यस्यति को न साधुः ? ॥ ३
पाथेयवन्तः पथि योग्ययुग्याः, सोपानहः सोदकभाजनाश्च ।
श्रीवस्तुपालेन समं जनौघाः, प्रयाणकाय प्रवणा बभूवुः ॥ ४
आकारितस्तेन कृतादरेण, दूरादपि श्राद्धजनः समेतः ।
ययुस्तदीयानि पुनर्यशांसि, दिगन्तरेभ्योऽपि दिगन्तराणि ॥ ५
समं समग्रैरपि बन्धुवर्गैर्निसर्गबन्धुर्विबुधव्रजस्य ।
शुभे मुहूर्तेऽथ शुभैर्निमित्तैर्मन्त्री स्वनाथानुमतः प्रतस्थे ॥ ६
पुरः प्रशस्तां फल-पुष्पहस्तां, प्रमोदमानः प्रमदां विलोक्य ।
निरन्तरायां पथि तीर्थयात्रां, मन्त्रीश्वरश्चेतसि निश्चिकाय ॥ ७
स्थितः क्षणं क्षीरतरोरधस्तात्, कृतानुवृत्तीन्[3] सुजनान् निवर्त्य ।
खरस्य वामं स्वरमध्वगामी, शुश्राव सुश्रावकचक्रशक्रः[4] ॥ ८
अक्षेषु नित्यं कृतनिग्रहोऽपि, जग्राह तांस्तान् नियमानमात्यः ।
स्वभावशुद्धाः सुधियो हि तेषां, पावित्र्यलाभाय तथापि लोभः ॥ ९
रथैस्तुरङ्गैः करभैर्महोक्षैर्जग्मुस्तदा केऽपि कथञ्चनापि ।
मन्त्रीश्वरे धर्मधराधुरीणे, तस्मिन् विशश्राम भरस्तु तेषाम् ॥ १०
न वाहनं यस्य स तस्य यानं, नासीद् धनं यस्य स तस्य वित्तम् ।
न चीवरं यस्य स तस्य वस्त्रं, कल्पद्रुकल्पः प्रददौ[5] पदव्याम् ॥ ११
भुङ्क्ते स्म सर्वेष्वपि भुक्तवत्सु, शेते स्म सुप्तेषु स यात्रिकेषु ।
प्रबुध्यते स्म प्रथमं तदित्थं, सङ्घप्रभुत्वव्रतमाचचार ॥ १२
प्रभूतभोज्यानि बहूदकानि, सगोरसान्युन्मदमानवानि ।
तस्यातिदुर्गेऽपि पथि प्रयाणान्युद्यानलीलासदृशान्यभूवन् ॥ १३

---

१ °यं शारदा समे° मु० ॥ २ निबन्धनार्थं मु० ॥ ३ °न् स्वज° प्र० वा० ॥ ४ °शक्तः वा० कां० ॥ ५ °दौ पृथिव्याम् वा० मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यात्राप्रसङ्गेन जगाम येषु, पुरेषु पौरोच्छ्रिततोरणेषु ।
तेषामधीशैः सविशेषमेष, सम्मान्यमानः सममानयत् तान् ॥ १४
अभ्यर्थ्यमानः पथिकैरनेकैर्वस्तून्यनेकान्यपि वस्तुपालः ।
तेभ्यः प्रभूतानि पथि प्रयच्छन्, नाहङ्करोति स्म न कुप्यति स्म ॥ १५
गीतानि जैनोन्युचितानि गातुं, जनो जगौ वर्त्मनि मध्यमध्ये ।
प्रमोदपूरोद्गतरोमराजिर्निरन्तरं तस्य पुनर्यशांसि ॥ १६
अनुक्रमेण प्रसृताऽस्य साधोः, सा धोरणी यात्रिकधोरणानाम् ।
वैमानिकैर्व्योमनि नाकिलोकैर्भूमानयष्टिप्रतिमा व्यलोकि ॥ १७
पुरश्च पृष्ठेऽपि च पार्श्वयोश्च, परिस्फुरन्तः खरहेतिहस्ताः ।
यात्राजनं वर्त्मनि तस्य शश्वदश्वाधिरूढाः सुभटा ररक्षुः ॥ १८
समुद्धृतैर्जीर्णजिनेन्द्रहर्म्यैर्नवैः सरोभिश्च सरोजरम्यैः ।
प्रस्थानमार्गः सचिवस्य सोऽभूदजानतामप्युपलक्षणीयः ॥ १९
यावन्ति बिम्बानि जिनेश्वराणां, श्वेताम्बराणां च कदम्बकानि ।
मार्गेषु तेषां मुषिताश्रितार्तिः, पूजां स निर्वर्त्य ततः प्रतस्थे ॥ २०
स पञ्चषैर्निर्विषमप्रपञ्चप्रयाणकैः प्रीणितसङ्घलोकः ।
धराधरं धर्मधुरन्धरः श्री**शत्रुञ्जयं** शत्रुजयी जगाम ॥ २१

आरुह्य सह्यादपि सुन्दरेऽस्मिन्नश्मोच्चये कश्मलमुक्तचेताः ।
मन्त्री मिलन्मर्त्यकृतोपमर्दं, **कपर्दिनं** नाम ननाम यक्षम् ॥ २२
स कर्दमैस्तस्य तनुं **कपर्दि**यक्षस्य यक्षोपपदैर्विलिप्य ।
पुष्पैरनेकैर्विलसद्विवेकस्त्रिलोकपूज्यस्य चकार पूजाम् ॥ २३
अध्वश्रमध्वस्तसमस्तपापभरेण भूरेणुभृता जनेन ।
शृङ्गावलिव्याप्तवियन्मुखोऽपि, सोऽयं सुखेनाऽऽरुरुहे महीध्रः ॥ २४
तत्राऽऽ**दिनाथ**स्य नमस्यमूर्तेः, स्नात्रं च पूजां च विधाय मन्त्री ।
पुरः कुरङ्गीनयनाः प्रमोदनृत्यन्मना नृत्यमकारयत् सः ॥ २५
संश्लिष्टमष्टापदपृष्ठपट्टे, तं दृष्टवान् विष्टपवन्दनीयम् ।
अमेयतेजोमयमण्डलस्थं, यथा पुमांसं परमं स मन्त्री ॥ २६
विरच्यमाने सचिवेन तेन, पूजाविधौ पूज्यतमस्य तस्य ।
सकुङ्कुमस्नानजलच्छलेन, गलन्निवाऽऽलोक्यत भोगरागः ॥ २७
न केवलं केवलिचक्रवर्ती, हृच्चक्रवर्ती सचिवस्य सोऽभूत् ।
शुश्रूषयाऽप्येष विशेषवत्या, तत्याज नान्तःकरणं तदीयम् ॥ २८

१ **जैनानुचि**° वा० ॥ २ °**सृतस्य** प्र० कां० ॥ ३ **साधारणी या**° वा० कां० । **सा धोरणिर्या**° मु० ॥ ४ °**तभव्यलो**° वा० मु० ॥ ५ **महीन्ध्रः** वा० । **महेन्द्रः** मु० ॥ ६ °**स्नानं च** मु० ॥ ७ °**नृत्यात्मना** वा० मु० ॥ ८ °**क्य ततोऽङ्गरागम्** मु० ॥ ९ **यदीयम्** वा० मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीनाभिसूनुर्मृगनाभिमुख्यैः, पूजोपहारैः प्रचुरैः प्रसन्नः ।
मन्ये स्वभावादपि वीतरागः, स स्फीतरागः सचिवे बभूव ॥ २९
स श्वेत-पीतैर्वसनैर्व्यधत्त, धाम्नि प्रभोस्तस्य महापताकाम् ।
सरोजराजीरजसाऽनुविद्धो, जिग्ये यया सिद्धसरित्प्रवाहः ॥ ३०
धर्माय निर्मापयति स्म तस्मिन्, मन्त्री धरित्रीभृति वस्तुपालः ।
श्रीनेमि-पार्श्वप्रभुहर्म्ययुग्ममयुग्मनेत्राचलशृङ्गचारु ॥ ३१
प्रासादसौन्दर्यविलोकनेन, सम्भूतभूयस्तरसम्मदानाम् ।
विभान्ति तत्कान्तिकरम्बितानि, कृतस्मितानीव दिशां मुखानि ॥ ३२
यदुत्तमाङ्गस्थितशातकुम्भकुम्भध्वजस्फूर्जदभीशुभिन्नाः ।
अल्पेऽप्यनल्पा इव वासरान्ते, चिराद् विराजन्ति कराः खरांशोः ॥ ३३
कथं न विश्वैककुटुम्बकोऽसौ १, यस्त्यक्तभेदं घटयाञ्चकार ।
यन्मण्डपे चण्डपपौत्रपौत्रः, स्वपूर्वजानां सुहृदां च मूर्तीः ॥ ३४
स्वस्यानुजस्यापि च मूर्तियुग्मं, तुरङ्गयुग्मस्थमचीकरद् यः ।
मनीषिणां मुख्यतमोऽपि मन्ये, वृषस्थमात्मानमयं न वेत्ति ॥ ३५
शैलोपकण्ठेऽयमकुण्ठबुद्धिः, सरः सरस्वत्सदृशं चकार ।
उष्णेऽपि नोष्णानि भवन्ति यस्य, वारीणि रीणाध्वगजीवितानि ॥ ३६
द्वित्राणि तत्रैव दिनानि नीत्वा, क्रीत्वाऽर्थदानैः सुकृतं यशश्च ।
कथञ्चिदापृच्छ्य तमीशमाद्यं, मायत्नसौ रैवतकं जगाम ॥ ३७
तमुज्जयन्तापरसंज्ञमद्रिमाज्ञाविधेयाखिलसङ्घलोकः ।
स विश्वमुच्चैरमृतेन सिञ्चन्नुपागमन्नव्य इवाम्बुवाहः ॥ ३८
तुरङ्गमाणां चरणाग्रघातैरुद्धूतधूलीपटलच्छलेन ।
तस्य प्रयाणे प्रणयिप्रियस्य, नगोऽनुगच्छन्निव स व्यराजत् ॥ ३९
नरो न रोगापदमाप कोऽपि, न क्वापि यानव्यसनं बभूव ।
कस्याप्यभूत् तत्सुकृतप्रभावान्न वस्तुनो हानिरहानि तानि ॥ ४०
सुखेन सार्थैः पथि यात्रिकाणां, सिन्धूरगाधा अपि तास्ततार ।
संसारनामानमपारमब्धिं, स तु स्वयं लङ्घयितुं प्रवृत्तः ॥ ४१
मनागनालोकितदुर्निमित्तः, पदे पदे प्राज्यतृणोदकाढ्यः ।
अहिंस्रजीवैश्च बभूव तस्य, मार्गः सुदुर्गोऽपि किलानुकूलः ॥ ४२
तीर्थैः समग्रैरुपचर्यमाणं, सिद्धैरनेकैरुपरुध्यमानम् ।
रत्नैरनन्तैरुपचीयमानं, भूतैः प्रभूतैरुपजीव्यमानम् ॥ ४३

---

१ ल्पा अपि वा॰ मु॰ ॥ २ °णयप्रि॰ वा॰ ॥ ३ °स्य, जनोऽनु॰ कां॰ ॥ ४ °तुं, समर्थः प्र॰ ॥ ५ °वस्व ब॰ वा॰ मु॰ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शृङ्गैरुदग्रैर्दिवमुल्लिखन्तं, दिशः स्पृशन्तं पृथुभिश्च पादैः ।
तलेन धात्रीतलमाप्नुवन्तं, हरन्तमन्तःकरणानि कान्त्या ॥ ४४

क्वचित् तटीः काञ्चनकान्तिजुष्टाः, क्वचिन्नदीरुन्मदराजहंसाः ।
क्वचिद् द्रुमानार्द्रफल-प्रवालान्, क्वचिच्च धातून् विविधान् दधानम् ॥ ४५

सिताम्बरं मन्त्रिवरस्तमग्रनिविष्टनिर्विष्टपयोदभङ्ग्या ।
समाधिबन्धादिव निश्चलाङ्गं, मुनीन्द्रतुल्यं तमगं ददर्श ॥ चतुर्भिः कलापकम्[1] ॥ ४६

विकासवद्भिर्व्रततिप्रसूनैरन्तःप्रसुप्तभ्रमरैर्यदीयाः ।
वनाधिदेव्यस्तमिवोपयान्तं, विलोकयन्ति स्म विलोचनाभैः ॥ ४७

सरांसि राजन्! नलिनीवनानि, वनानि वेल्लन्नवपल्लवानि ।
मुदं निदाघज्वरितस्य यत्र, कुर्वन्ति गन्धर्ववधूजनस्य ॥ ४८

स्थितस्य यस्योपसमुद्रमद्रेर्मेघावलीवेष्टितमेखलस्य ।
बभूव नेत्रश्रुतिनेत्रभाजा, सतीर्थ्यता मन्थमहीधरेण ॥ ४९

रत्नप्रदीपेषु गुहागृहेषु, तान्ता रतान्तावसरे सुरस्त्रीः ।
रेणुं किरन्तः कुमुदाकराणां, तमीसमीराः सुखयन्ति यत्र ॥ ५०

अभ्रंलिहप्रस्थशिरःस्थशुभ्रपयोदसन्दोहमिषेण धर्मः ।
कलेः खलस्य प्रसरं विलोक्य, निराकुलस्तिष्ठति यत्र दुर्गे ॥ ५१

उदस्तहस्तैः करिभिर्विमुक्ता, मुक्ताफलानां श्रियमाश्रयन्तः ।
अम्भःकणा दिङ्मुखभूषणानि, निरन्तरं यत्र तरङ्गयन्ति ॥ ५२

निशासु यस्मिन्नवतंसितानां, समीपवर्ती जगतीरुहाणाम् ।
तारागणः पुष्यति पुष्पशङ्कां, मुग्धस्य सिद्धप्रमदाजनस्य ॥ ५३

अधित्यकाधिष्ठितपानगोष्ठीगीतोत्कतोत्सङ्गकुरङ्गरुद्धः ।
मृगीदृशां राजति यत्र रात्रिकरः करप्राप्य इव क्षपासु ॥ ५४

यस्मिन् विदग्धा अपि सिद्धवध्वः, सम्भूतभूतेषु वनान्तरेषु ।
फलैर्विपकाग्रमुखैः सदक्षान्, कीरान् विरावैरुपलक्षयन्ति ॥ ५५

न तद् वनं यत्र न कोकिलानां, नृत्यन्ति गीतैरिव नीलकण्ठाः ।
यस्मिन् गिरौ तानि सरांसि यानि, स्वेनैव शैत्येन वहन्ति कम्पम् ॥ ५६

यस्मिन् सदा स्मेरसरोजराजिविराजितासङ्ख्यसरःपरीते ।
आकर्णयन्तोऽपि नवाब्दशब्दान्, न मानसाय स्पृहयन्ति हंसाः ॥ ५७

दिनाधिनाथेन पुरोनिरस्तमस्तस्थिताचन्द्रमसश्च बिभ्यत् ।
यत्कन्दराः संश्रयते तमिस्रं, दत्ते हि दुःस्थस्य[2] पदं महात्मा ॥ ५८

---

१ चतुर्भिः कुलकम् प्र० कां० ॥ २ यस्य, कु० मु० ॥

फलानि पुष्पाणि मनोरमाणि, यस्य द्रुमाः प्रत्यहमुद्वहन्ति।
अत्यन्तभक्तेषु भवत्यवश्यं, श्रिये महत्यै महतामुपास्तिः ॥ ५९ ॥
श्रीनेमिनाथेन जिनेश्वरेण, पवित्रिते यत्र धराधरेन्द्रे।
हिंस्राः समुज्झन्ति परंःसहस्राः, स्वभावसिद्धामपि वैरबुद्धिम् ॥ ६० ॥
तं गोत्रमुख्यं विधृतक्षमं च, सद्वंशजातं च समुन्नतं च।
श्रीवस्तुपालः कमलाढ्यकुल्यं, स्वेकल्पमुर्वीधरमारुरोह ॥ ६१ ॥
रीणान् धुरीणान् युगतो वियुज्य, जनेषु यातेषु तमद्रिमुच्चैः।
अस्थायि तेषां शकटैरधस्तान्न सद्गतिः स्याद् वृषवर्जितानाम् ॥ ६२ ॥
न केवलं शैलशिरोऽधिरूढः, समानमानानधरीचकार।
अधो विधातुं स विशुद्धबुद्धिः, संसारमप्यारभते स्म मन्त्री ॥ ६३ ॥
श्रीनेमिनामानममानवीर्यैस्तेजोभिरभ्युज्ज्वलयन्तमाशाः।
जिनेन्द्रमत्रैव जनेन्द्रमन्त्री, निदर्शनातीतमसौ ददर्श ॥ ६४ ॥
स्नात्रं स पात्रप्रतिपादितार्घस्तीर्थोदकैस्तीर्थकरस्य तस्य।
कृत्वा च कृष्णागुरु-चन्दनाद्यैर्विलेपनं धौतमलानुलेपः ॥ ६५ ॥
घनैः प्रसूनैर्वसनैरनूनैः, पत्रैः पवित्रैरशनैः प्रधानैः।
नृत्तैर्वधूनां च गृहीतचित्तैर्गानैः सदानैर्विततान पूजाम् ॥ ६६ ॥ युग्मम् ॥
प्रभोः सपर्यावसरेषु तस्य, कर्पूरधूपैः परितः स्फुरद्भिः।
तमद्रिमेकं सुरभीचकार, दिशो यशोभिः स पुनः समग्राः ॥ ६७ ॥
श्रीनेमिनाथावसथान्तरस्थे, कर्पूर-कृष्णागुरुधूपधूमे।
पलायमानः कलिरेष कालस्तत्कालमासीन्मशकानुकारी ॥ ६८ ॥
धर्मक्रियाविस्मृतराजकार्यस्तत्रैव निन्ये स बहून्यहानि।
असक्तमासक्तमभीप्सितेऽर्थे, कालातिपातं न हि वेत्ति चेतः ॥ ६९ ॥
नमन्नमन्दप्रतिभः प्रभासे, चन्द्रप्रभं चन्द्रसमानकीर्तिः।
श्लाघाचलत्कन्धरमालुलोके, लोकेन सौराष्ट्रनिवासिनाऽसौ ॥ ७० ॥
अभ्यर्च्य भक्त्या भवमत्र तीर्थे, श्रीसोमनाथाभिधया प्रसिद्धम्।
प्रत्तप्रसूनाञ्जलिना प्रदत्तो, जलाञ्जलिस्तेन पुनर्भवाय ॥ ७१ ॥
तेनोपनीतैर्घनसारधूपैः, स्वमङ्गमङ्गारितमीनकेतुः।
शङ्के स लङ्केश्वरकन्धराग्नेश्चिराय विस्रं सुरभीचकार ॥ ७२ ॥
अनेन सत्यापितसद्गुरूपदेशेन तद्देशनिवासिनीनाम्।
सुवासिनीनां वदनाब्जराजौ, निवेशिता स्वस्तुतिराजहंसी ॥ ७३ ॥

---

१ °स्वतुल्यमु° प्र० कां०॥ २ °धातुं भुवि° कां० ॥ ३ °रप्युज्ज्व° वा० कां० ॥ ४ स्नानं स मु० ॥ ५ °रपूरैः परि° मु० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मानमानतजिनेन्द्रपदारविन्दः, कृत्वा कृतार्थमयमर्थिजनं च दानैः ।
मन्त्री निमन्त्रितजनेन सह प्रहृर्षः, पत्त्यं प्रयातुमथ तं प्रभुमापपृच्छे ॥ ७४ ॥

अस्य प्रभोः पितुरिव क्षणमप्यशक्तः सोढुं वियोगमहमित्यवगम्य सम्यक् ।
चौलुक्यचन्द्रसचिवः शुचितैकवित्ते, चित्ते निवेश्य जिननाथमथ प्रतस्थे ॥ ७५ ॥

व्योवर्तमानमथ मानवराजमन्त्रिराजं मुदा प्रतिपथं प्रमदास्तदानीम् ।
पश्यन्त्यदृष्टमिव तं शतशोऽपि दृष्टं, तृप्तिर्भवेन्नहि दृशां प्रियदर्शनेषु ॥ ७६ ॥

आगत्य स्वपुरं पुरन्दरसमस्याऽऽनम्य पादौ प्रभोः,
स क्षेमेण समेत्य चाऽऽत्मशरणं व्यापारिणामग्रणीः ।
देशाय प्रजिघाय सङ्घजनतां सत्कृत्य तां कृत्यवि–
न्निर्विघ्नाः कृतिनां भवन्ति हि समारब्धक्रियासिद्धयः ॥ ७७ ॥

दूर्वा-पुष्प-फला-ऽक्षतैरुपचितं पात्रं दधत्यः करे,
यस्मै मङ्गलमङ्गनाः प्रणयिनां चक्रुस्तदा सम्मदात् ।
सर्वत्र स्वयशांसि बन्दिगदितान्याकर्णयन् कर्णवद्,
दानोद्दामकराम्बुजः स जयतु श्रीवस्तुपालश्चिरम् ॥ ७८ ॥

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये यात्रासमागमनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

* [3]विक्रमतो गिरि-गगन-स्मरशर-विधु १५०७ सङ्ख्यवत्सरे वहति ।
स्वपरोपकारकृतये, लिख्यकारि[4] मुमुक्षुणा ॥ १ ॥
श्रीमति पत्तननगरे ॥ छ ॥ छ । *[5]

---

१ व्यावृत्तमा° वा० ॥ २ °गमो ना° प्र० ॥ ३ प्र० आदर्शप्रान्तभागे एषा फुल्लयन्तर्गता लेखकपुष्पिका वर्तते ॥ ४ लिखितेयं कीर्तिकौमुदी गणिना प्र० टि० ॥ ५ प्रतिलिपिविहिते नवीने कां०-आदर्शे मूलप्रतिप्रान्तगता निम्नोद्धृतप्रकारा पुष्पिका वर्तते—“ छ । शुभं भवतु । कल्याणमस्तु । ऊकेशवंशे दो० सामंतसुत दो० समरासान्निध्यात् सा० देवासुतया श्रा० रहीणाम्न्या श्रीकीर्तिकौमुदीप्रतिर्लेखिता आशापल्ल्यां विहारिता च श्रीकरी स्तात् । श्री । श्री । श्री । ”

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम परिशिष्ट ।

★

1 Kathavate's Introdoction to the edition of Kirtikaumudi.

2 Professor, G. Buhler's critical study of Sukritasamkirtana of Arisimha.

3 Introdoction of the Sukritasamkirtana text by late Muniraj Shri Chaturvijayaji Maharaj.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

KATHAVATE'S INTRODUCTION
to the first edition of
KĪRTIKAUMUDI

Kīrtikaumudī, like *Vikramānkadevacharita* and *Śrīharshacharita*, is a Panegyric written by a poet on his patron. In this instance the patron is not a king, but the the minister of a king. In order to interest the reader in the poem, it is enough to mention that it was the hero of this panegyric and his brother who erected the justly famed *Jaina temples* on Mount Abu. If a sentimental traveller, while winding his way to the temples through the mountain, is held enchanted by the huge rocks sending into the skies their fantastic summits; if the thick forest, enriched by the fragrant *Champā*, the shady *Jambu* loaded with luscious fruit, the tall *Pāngārā* covered with a dazzling blossom, the delicious jasmine and the delicate *Śirīsha*, and made sonorous by endless varieties of the notes of birds charms the senses; if majestic nature subdues his heart by pleasing grandeur on the way; on entering these lovely edifices he is compelled to admit that art, Nature's daughter, has charms which are her own. No better description of these triumphs of art can be conceived than the following :—

" The principal feature in each is the usual octagonal dome, forming a vestibule to the adytum, wherein the objects of worship are enshrined and around which is a columned peristyle, roofed with numerous domes. The whole edifice is of white marble, and the sculptured ornaments with which every part of the surface is covered, are so finely chiselled, as to suggest the idea that they have been moulded of wax, the semi-transparent edges almost realizing, by their hardly perceptible thickness, the mathematician's definition of a line. The pendant which hangs from the centre of the dome of the temple of Tejpal is particularly remarkable, and rivets the attention of every visitor. As Colonel Tod justly remarks, ' the delineation of it defies the pen, and would tax to the utmost the pencil of the most patient artist; and he is secure in asserting that no ornament of the most florid style of Gothic architecture can be compared with it in richness.' It appears like a cluster of the half-disclosed lotus, whose cups are so thin, so transparent, and so accurately wrought, that it fixes the eye in admiration. The sculpture of these temples does not, however, confine itself to the representation of inanimate natural objects, it exercises itself also upon the scenes of domestic life, the labours of navigation and commerce, and the struggles of the battle-field; and it may be safely asserted that the student of antiquities, who should devote sufficient attention to these bas-reliefs, would be amply repaid by a large increase of knowledge regarding many interesting points in the manners and customs of mediaeval India."– *Forbes' Rasmala.*

The present account of those great men, to whose liberality India is indebted for these artistic structures, is further interesting as being a contemporary record. Indeed, if commemoration of events of the time had been the author's aim more

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

then showing his own skill in devising new modes of adulation and winning for his work the name of a Mahākāvya, the purposes of antiquarian inquiry would have been better served. As it is, the poem throws some light on the obscure period when the *Aṇahillavāda* house was superseded by the *Dhavalakkaka* house. But before making an analysis of the facts contained in the poem, it will be well to note what is known of the author and make some estimate of the merits of his writings.

II

The name of the author is *Someśvaradeva*. It is mentioned at the end of each canto and also in the body of the poem. At the end of each canto it is mentioned that the poet was the family-priest of the king of the *Gūrjaras*. In the beginning of the poem the poet says,[1] "*Śrī Someśvaradeva* delineates the character of *Vastupāla*, seeing that minister's devotion to himself (*Someśvara*, the author) is extreme, that his (the minister's) family is illustrious, his personal appearance splendid, his conduct excellent, his charity accompanied by courtesy, his elevated position such as humbles his foes, his talents such as defy those of *Bṛihcspati*, his mercy such as crushes all germ of fear, his fame an ornament of the earth, his administration regulated by justice." He further declares, in his own way, that it was genuine admiration of his hero that prompted the poem. He says, "in consequence of the excessive joy at finding a treasure of rubies in the excellent qualifications of the great minister, the muse of *Śrī Someśvara* is impatient to sing." Further on[2] the poet mentions that he was the priest of *Lavaṇaprasāda* of *Dhavalakkaka*, a prince descended from one of the kings of *Aṇahillapura*.

I have met with several inscriptions composed by *Someśvara* two in the temple on Mount Abu, built by *Vastupāla's* brother, are given in the Appendix. These are dated 1297 *Samvat* or 1241 A. D. There is a third at *Dabhoi*, in the territory of His Highness the *Gāyakvāda*, on one side of the gate called *Hirā Bhāgoḷa*. Greater part of it has become illegible. The stone on which it is inscribed is broken, and many lines are altogether effaced. It contains several found in the *Kīrtikaumudī* and in one of the inscriptions on Mount Abu. The line in which the author's name is mentioned runs thus :—

प्रशस्तिमेतां ... ... शसंभूतभूपालपुरोहितेन्द्रः ।
चकार सोमेश्वरदेवनामा यामार्धनिष्पन्नमहाप्रबन्धः ।

It is dated 1311 *Samvat* (1255 A. D.) *Jyeshṭha Sudi Budha Dine*. Wednesday the ...... day of the moonlight fortnight of *Jyeshṭha*. The inscriptions in *Vastupāla's* temple on the *Śatruñjaya* hill are the composition of this poet. I have not seen them, but from the photographs which Dr. *Bühler* kindly showed to me, I find they are dated 1288 *Samvat* (1232 A. D.), the 10th day of the dark fortnight of *Phālguna*.

From this evidence it is clear that *Someśvara* was the family-priest of *Bhīmadeva of Aṇahillavāda Paṭṭaṇa* and of *Lavaṇaprasāda* of Dholka; and that he was patronised by the two Jaina ministers, *Vastupāla* and *Tejhpāla*[3] whom he entertained by his witty poems panegyrics. The *Chaturvinśati Prabandh* of

1 Page 5, Sts. 45 to 48 2 Page 16, St. 84. 3 This work was written in 1405 *Samvat*, or 1349 A. D., at the instance of *Mahaṇasimha* at *Dhilli* (Delhi ?).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Rājaśekhara contains several anecdotes regarding *Someśvarra* and his patrons, the two ministers. It appears from one of the *Prabandhas* that there was great jealousy between *Someśvara* and the *Jaina Paṇḍitas* of his time. One of these *Harihara*[1] came to the court of *Vīradhavala*. By his wit and learning he gained the favour of the king as well as of the minister *Vastupāla*. This roused the jealousy of *Someśvara*, who never attended the court when *Harihara* was present. But once the king sent for *Someśvara*, and asked him to read before *Harihara* a poem consisting of one hundred and eight verses which he (*Someśvara*) had composed for being inscribed on a tablet in a new temple of *Vīra Nārāyaṇa*, built by the king. *Harihara* heard the verses, and said they were good-he knew them. The king looked surprised, but *Harihara* immmediately recited them word for word. *Someśvara* was overwhelmed with shame. When all left the court, he went to *Vastupāla* and assured him that the poem was really his own composition, and asked him how he could free himself from the unmerited disgrace. *Vastupāla* advised him to seek the friendship of *Harihara*. *Someśvara* was obliged to listen to the advice, and when he was thus humbled, *Harihara* one day went to the king's court and related how he had acquired by certain austerities the power of committing to memory, only by hearing once, any number of verses not exceeding one hundred and eight. He assured the king that the poem in question was an original composition of *Someśvara*. *Someśvara*'s credit was re-established. The *Prabandha* goes on to say that *Harihara*, after some days, left the court, being disgusted with the jealousy of *Someśvara*.

It will appear from the sequel that *Someśvara*'s influence at the court remained undiminished even after the accession of *Visaldeva* to the throne of *Paṭṭaṇa*, and that he was able to prove the sincerity of his love to his patron by saving him from the effects of the displeasure of that young king.

I have been told that there is a commentary on *Kāvyaprakāśa* written by *Someśvara*, and also a life of *Kumārapāla*. There is a copy of the first at Jessalmir, and one of the second in the celebrated *Bhāṇḍāra* at *Paṭṭaṇa*. I tried hard to get at this book, but to no purpose.

As to the poetical merit of the present work, I humbly think that it does show that the author possessed to a certain extent 'the vision and the feculty divine.' It must be admitted that his taste was affected by the corrupt tendency of his age. His work is full of play upon words and all varieties of alliteration. But he employes these generally whenever he is writing on worn out and exhausted topics. Whenever he has got anything new to say, and he frequently has it, his expression is happy and full of feeling. The dream of *Vīradhavala*, containing the wail of the guardian deity of the kingdom of Gujarat for her past glory, is a splendid composition. It is translated into English by Dr. *Bühler*.-(See Indian Antiquary, page 189, volume VI., Part LXIX). The descriptions of the morning and evening and of the seasons are also remarkable. Some of the reflexions on moral and political subjects are extremely well conceived. In describing the disinterestedness of his hero, he says, he (the minister) was not only free from the desire of appropriating the wealth of the people, but was even above the

1 He is mentioned in *Kīrtikaumudī*. See page 3 (P. 4 in this edition) St. 25.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

temptation of praise. Many an administrator, even at the present day, may well study the precept contained in this. In one place he expresses his wonder at the bewilderment of man who neglects his duty, though the inner soul bears direct testimony to its paramount claim by rejoicing when it is fulfilled. This is another mode of expressing the doctrine that conscience is the final ethical sanction or standard. His style is generally clear and felicitous, and-barring the puns-the writing may be regarded as one of good taste. One accustomed to read *Sanskrita* poetry may not regard an hour or two spent in reading it as ill spent.

III

For those scholars who do not read *Sanskrita,* I propose to give a short abstract of the contents of this peom. It opens with an invocation of the blessing of *Vishṇu, Śiva* and *Pārvatī* and *Śiva* and *Vishṇu* in incorporate forms, and lastly, *Sarasvatī,* the goddess of learning. Then, after making his obeisance to poets in general, the poet goes on to mention in particular *Vālmīki, Vyāsa, Kālidāsa, Māgha, Bhāravi* and *Bāṇa,* paying some graceful compliment to each. Then follow more modern and less generally known authors. They are *Dhanpāla, Bihlaṇa, Hemasūri, Nīlakaṇṭha, Prahlādanadeva, Narachandra, Vijayasimha, Subhaṭa, Harihara, Yaśovīra* and *Vastupāla.* Next, a few verses are devoted to the praise of good men and to the deprecation of wicked men. Then the poet mentions that it was his sincere admiration of the virtues of *Vastupāla* and the kindness which that minister always showed to him, which prompted him to write the poem. Thus finishing his introduction, the poet enters upon the subject of his poem. *Anahillpura* is described as a large city protected by a fortification. It has extensive gardens. The palaces in it are large, and the bright terraces seem as if they were all silver. On all sides are heard *Vedas* repeated, joyful songs sung and praises chanted by bards. There is a large temple of *Mahādeva* in it. The population is not exclusively *Jaina,* for sacrificial smoke is described as going up to heaven. The river *Saraswatī* runs by its side. The women in the city are beautiful, and adorn their persons with rich ornaments. The dust raised by prancing horses is put down by the rut flowing from the temples of elephants. The palaces are lofty like mountains, and their tops are adorned by flags. Beautiful women attract the hearts of young men; yet no irregularity follows, as the administration of justice is perfect. Near the town there is a large lake surrounded on all sides by temples, and having on one side a triumphal column of enormous height.[1]

In giving an account of *Anāhillapura* kings, the poet does not begin with *Vanarāja,* but begins with the accession of *Mūlarāja* to the throne. The sovereignty of Gujarat is described as having offered herself of her free choice to *Mūlarāja.* This means, I suppose, that he was not the direct heir to the throne, but came by it through the influence of some leading men from the state. Of his exploits, his defeat of the *Lāṭas* under the command of their general *Bārapa* and the seizure of his elephants and his fight with *Laksha,* called *Lākha-Phulāṇi,* are mentioned.[2]

His successor was *Chāmuṇḍarāja.*[3] His son *Vallabharāja*[4] succeeded him. He

1 The triumphal column is now gone. One can still see the site of the lake. The basin is all filled up, but the limits are visible. It seems it extended over several miles; and presumably was used for agricultural and gardening purposes. 2 *Vichāraśreni* of *Merutuṅga* assigns to the accession of *Mūlarāja* the date 1017 *Samvat.* 3 This name is ommitted in *Vichārsreni.* 4 1052.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

was so brave that he won for himself the name of *Jagatkampana*. The next king was his brother *Durlabharāja*,[1] whose hand never fell on the wives of other people, and never on the wealth of *Brāhmaṇas*. His successor was *Bhīmarāja*,[2] his nephew, who always kept an efficient check on the king of *Mālvā*, but who spared his life though he had fallen into his hands. The crown descended after him to *Karṇa*,[3] whose fame reached far. His son was the well known *Jayāsiṁha*,[4] who subdued all kings. He defeated, in a battle. *Khengāra* of *Soreth*, whose bravery knew no bounds. He reduced to subjection the king of *Sindh*.[5] He conquered and again restored the kingdom of *Arṇorāja*. The king of *Sākambharī* saw that the enemies of *Jayasiṁha* atoned for their enmity with him, with their lives and yielded to his power. He defeated the *Paramāra* king and took *Narawarman*, the king of *Dhara*, a prisoner, and took possession of his city. The king of *Mahobaka*,[6] taking a lesson from the fate of *Dhārā*, presented him with sums of money under the colour of his being a guest. His conquests extended in all directions. The *Gouḍa* country, celebrated for ghee, fell into his hands. He conquered *Barbbara*, the chief of Demons, and got the name *Siddharāja*.[7] His successor was *Kumārapāla*.[8] His valour was as great as his accomplishments. He is described as relinquishing the wealth of the deceased, by which, very probably, is meant that he extended the the right of succession to more indirect descendants than was allowed by the law then prevalent. Among the kings whom he conquered were the *Jaṅgala* king, and the kings *Ballāla* and *Mallikārjuna* of *Mālvā* and the Concan. The fact of his having yielded to the influence of Jainism is described by the poet as his having made a vow, at the request of kings and beasts of the forest, not to take any life. His successor[9] was *Ajayapāla*. He forcibly wrested from the *Jaṅgala* king, as a punishment, a gold *Maṇḍapikā*[10] and his furious elephants. His return to *Hindu Orthodoxy* is described as his having given to *Brāhmaṇas* the earth after he purified by his weapons. He is described as daily marrying wives, daily giving gifts, and daily punishing kings. His son was *Mūlarāja*,[11] who scattered the forces of the king of the *Turushkas*[12] He was succeeded by his brother *Bhīma*.[13] The kingdom of this simple king was divided amongst themselves, by his ministers and dependent kings. *Arṇorāja*, a scion of another branch of the *Choulukya*[14] family, resented this act of spoliation, and began to establish the sovereignty of his house-again. He fought bravely all his life, and killed in his attempt at re-organising the kingdom which was broken up. His son, *Lavaṇaprasāda*, is described by the poet as being his (poet's) contemporary. He conquered the king of *Naḍula*. The king of *Dhārā* came to invade his dominions, but, finding him firm in his opposition, retraced his steps. *Siṅghana*, the king of the southern country, whose army was numerous but personal valour limited, avoided hostility with him, as his personal valour was great, though his army was small. His son, *Vīradhavala*, was equal to

---

1 1066. 2 1078, 3 1120. 4 1150. 5 I am not sure सिन्धुपति means the king of Sindh; it may be a proper name. 6 Madanavarma. 7 Those that keep in subjection evil spirits are called *Siddhas*. 8 1199-*Vichārsreṇi* says that at the end of the reign of *Jayasiṁha* (*Kartik sudi tritiyā*) there was an interregnum of 3 days. *Kumārapāla* is described as the grandson of *Bhimadeva* through the male line. 9 1232, *Dvādaśi Phālguna sudi*. An interregnum of 30 months and 7 days after the death of *Kumārpāla*. 10 Probably what is now called *Ambāri*. 11 1234. *Chaitrā Sudi Chaturthī*. 12 Mahomedans. 13 1236. 14 *Arṇorāja* was the son of the sister of the mother of *Kumārapāla*. This line is called waghela or *Vyāghrapalli* line.

Jain Education International 	For Private & Personal Use Only 	www.jainelibrary.org

him in valour, and risked his life in battles most freely. One night *Lavaṇaprasāda* saw a strange dream, in which he saw that the gurdian deity of the kingdom of *Paṭṭaṇa* came and threw a garland around his neck. The king immediately sent for his son and his religious preceptor, the poet, and asked the latter what the dream meant. He explained to him that it was an offer made to him by providence of the sovereignty of Gujarat, and that he should immediately set about to establish his sovereignty over the country, which was at that time divided by powerful men among themselves. As a preliminary step to this, the king proposed to appoint some able minister to govern the country he had conquered. No sooner did this idea suggest itself of the king than he thought of the two able brothers, *Vastupāla* and *Tejahpāla*. They were sent for immediately, and, when they came, he explained to them how he wanted to re-establish the decaying power of *Paṭṭaṇa*. He extolled their honesty and their abilities, and told them that a conqueror could never get peace of mind unless there be at the helm of administration really able and trustworthy men. He congratulated himself on having found two such able ministers, and them to take up the responsible duties. *Vastupāla* then humbly expressed his joy at having been so fortunate as to be held in such high estimation by the king. He ventured, however, to state that hard times had come, when bad counsellors led proud kings by dangerous ways, till both came to grief. Further, he stated that if the king would promise to be just and to control his passions, and not to lend his ear to the insinuations of wicked persons-if he would promise to rescue the kingdom from the oppression of the wicked-then he would cheerfully obey his command. If he had other views in his mind, the proud minister said, he would bid him farewell. The king heard these words of the celebrated statesman, and put into his hands the minister's seal.[1] The minister, having taken charge of his duties, went to *Stambhatīrtha*, modern *Khambāyat*, pronounced by Europeans as *Cambay*. He redressed many of the wrongs committed by previous governors. During his administration low people gave up earning money by base means; the wicked turned pale; the righteous prospered. All honestly carried on their businesses in security. He put an end to piracy and stopped by constructing platforms, the promiscuous mingling[2] of all castes in shops where whey of curds was sold. He was liberal in his gifts. Even those who had been long dead come under his obligation, because he repaired the public works left behind by them. He planted groves of trees, sunk wells, and made public parks, dug tanks, built a city, and erected innumerable other works of public utility. He made no difference of caste or creed, but treated all subjects equally. While peace was thus reigning all over the kingdom, *Singhana*, the king of the *Dekkan*, having heard of the prosperity of Gujarat, ordered his army to make a depredatory excursion into the province. The whole of the population was seized by consternation. The king's army though small, was strong, and the father and the son, *Lāvaṇaprasāda* and *Vīradhavala*, dauntlessly went forth and met the enemy when he had advanced as far as *Bhrigukatchha* (*Bharucha* or *Broach*). While these two warriors were thus engaged, four kings from Marwad seized the opportunity and advanced against them. Indeed, the condition ot the father and

---

1 It appears from one of the Prabandha that Tejahpala remained at the court, and Vastupala went to Khambayat as a governor. 2 This is the meaning I attach to स्पृष्टास्पृष्टनिषेधाय विधायावधिवेदिकाम् । पुरेस्मिन्वारितस्तेन तक्रविक्रयविप्लवः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the son was critical with a powerful invader in the front, and a combination of four hostile kings in the rear, any other prince would have lost courage. To add to the embarassment of his position, the kings of *Godraha* and *Lāṭa* allied themselves with the Marwad kings and seceded from the camp, and left these two to themselves. But *Vīradhavala* and *Lavaṇaprasāda* were equal to the occasion. They pursued with great vigour, at first, the army of the *Yadus*, but, when harassed in the rear by the combined kings, they turned their forces against them. The southern army was so completely broken that it had not the courage to make any diversion again on the rear. While the king was thus engaged in a destructive war, *Śankha*, the son of *Sindhurāja*, sent an emissary to the minister, *Vastupāla*. He extolled the bravery of *Śankha* as shown in his contest with *Yādavas* though unfortunately *Śankha* was taken prisoner in the contest. Further, he stated that the town of *Stambhapura* was, by right of descent, his, as his ancestors had formerly held it. He also held out to him the hope of being made a governor of the town if he surrendered it to *Śankha*, and he ended by threatening him with an instant expedition. Though *Vastupāla*'s feelings of hope, fear and justice were thus appealed to, he remained firm. He refused to surrender the town, and pleaded his king's right of conquest against the hereditary title of *Śankha*, and distinctly told him that he was quite ready to take the field if *Śankha* should have the audacity to declare war.

This defiance of *Vastupāla* swelled the tide of *Śankha*'s anger, and he at once advanced to the side of a tank called *Vaṭakupa* (*Vadkuvo*). The minister defended with great bravery the town which he occupied. After some time the minister attacked the position of *Śankha*, though his army was numerous. When the battle commenced, *Bhuvanapāla* of the Gula family, on the side of the minister, assailed *Śankha*, who was also called *Sangrāmasimha*, but was himself attacked by *Sāmanta*, an ally of *Śankha*. The two fought desperately, *Bhuvanapāla* slew *Sāmanta*, and proceeded against *Śankha*. *Śankha* cut off his head in a single fight. This sharpened the edge of the minister's anger. The fight now became general, and several warriors were killed on each side. At last *Śankha*, finding the minister invulnerable, withdrew his shattered forces, and retired from the field. The minister led back his successful army, receiving congratulation of his subjects on the way. *Lāvaṇaprasāda* too, with his valiant son, returned to his capital, having repelled the southern invader on one side, and the combined forces of neighbouring princes on the other.

In honour of this victory the citizens held a great festival, to witness which and to make his obeisance to the goddess called *Ekallavīrā*, whose shrine was outside the town, the minister passed the principal street in the town. The minister worshipped the goddess according to the proper ceremonies, and prayed to the goddess that she might always bless by her presence his own heart and his king's arm.

The poet now proceeds to describe the sufferings and pleasures of the hot season, and the way in which the minister passed it–a noticeable fact, in which connexion is that a great part of the minister's leisure was spent in the company of literary men, among whom probably the author held a prominent position. His gifts to these men are described as having been princely, and more than an adequate return for the pleasure which the men afforded to him. The poet next proceeds to describe the evening and moonlight. He employes the most fanciful

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

conceits in describing the pleasures of the citizens. Wine seems to have played a prominent part in helping the cause of Love. Giving for some time considerable freedom to his amorous muse, the poet winds up his account of revelry by a grand conceit describing the approach of dawn. As if to atone for the revelry of the previous canto, and by way of preparing the reader for his hero's pilgrimages, the poet introduces in the eighth canto a series of moral reflexions, which are very neatly and elegantly expressed. The canto concludes with a beautiful description of the beauties of autumn. The ninth and last canto is devoted to the description of the minister's visits to the holy shrines held in reverence by *Srāwakas*. One must keep before his mind's eye through how many different principalities of contending princes pilgrims had to pass, and how provinces were infested with marauding tribes, in order to be able to realize the importance which the poet attaches to the minister's having taken out with him a numerous band of fellow-pilgrims. In one of the *Prabandhas* the minister's retinue is described to have consisted of 4,500 carts, 700 palanquins, 700 carriages, 1,800 camels, 2,900 *Srīkarana*,[1] (?) 12,100 *Śvetāmbaras*, 1,100 *Digambaras*, 450 Jain singers, 3,300 bards. The author seems to have taken up for description, only two or three holy places visited by the minister. After mentioning generally that he made rich gifts to all shrines that he came across in his way, and made repairs and additions to temples, wells &c., where they were necessary, the poet proceeds to mention that he visited the shrine on the mountain of *Śatrunjaya*. He commemorated his visit to the holy mountain by building two temples–one for *Neminātha*, and another for *Pārśvanātha*. In the hall of this temple were placed the images of his ancestors and friends, and equestrian statues of himself and his brothers. From *Śatrunjaya* the minister proceeded to the mountain *Raivataka*, where he offered the best incenses to the shrine of *Neminātha*; and having lived here for many days, he went to *Prabhāsa Paṭṭaṇa*, and then worshipped *Śiva*, known by the name of *Somanātha*. He took leave of the shrine of the great *Jina* at this place, and returned to his own city (*Paṭṭaṇa*). When he arrived there, he first paid his respects to his king, and then went to his own house. Having thus completed his pilgrimage, he duly honoured the men who had accompanied him on his pilgrimage and sent them to their own places.

Here the poet's narration ends. It seems strange that the poet should have ommitted to mention the famous temples on mount Abu. It cannot be said that the Abu temples were built later, that is, after the date of the poem; for the inscriptions in the temples on *Śatrunjaya* bear the date 1288, *Samvat*, while those in the Abu temples are dated 1287 of the same era. The *Praśasti* on these temples is composed by the author of this poem, and therefore the omission of the mention of the famous work from this panegyric seems the more strange. The only explanation that suggests itself to me is that the poet could make room for the description of one temple only, and he chose the *Śatraunjaya* temple, because the one on Mount Abu was built in the name of the wife and son of *Tejahpāla*, and may, in one sense, be regarded as a special work of *Tejahpāala*. It appears that *Someśwara*, though a friend of both the brothers, was a special favourite of *Vastupāla*. That is the only reason I can assign for no mention of the Abu temple being made in this poem.

1 May it mean a clerk ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

IV

Thus the poet leaves off his narration while the minister was at the highest point of his glory. It appears from other narrations that the prosperity of this minister declined towards the end of his life. During the life of *Vīradhavala* his influence was undiminished. *Vīradhavala* had two sons *Vīrama* and *Vīsala*. *Vīrama* was not a well-behaved prince, and therefore this minister wished that the crown should descend to *Vīsala;* and notwithstanding some hesitation on the part of the old king, *Vastupāla* used his influence in helping *Vīsala* to the throne. According to the statement of one of the annalists, *Vastupāla* was so opposed to the succession of *Vīrama*, and *Vīradhavala* so oscillating that when one night *Vastupāla* succeeded in obtaining from him a promise in favour of *Vīsala*, who was then at *Dholka*, he brought him from there to *Paṭṭna*, before morning, on a fast camel, and having got him coronated early in the morning, administered to the old king a cup as a medicine, which terminated him life, and thus put the matter of succession beyond question. Another narration says that *Vīsala* was sent for after *Vīradhavala* had died, and till he came *Vastupāla* kept *Vīrama* at a distance by force of arms. *Vīrama* went for help to *Jābālipura* where his father-in-law ruled; but, at the instance of *Vastupāla*, was killed there. The narration says that *Vīrama* was regarded with such fear and hatred by the minister, because he (*Vīrama*) was an implacable enemy of the *Jainas*, and favoured the *Nāgara* party at the court. If such was the case, *Vastupāla* would seem to have chosen only the less of two evils. For after the succession of *Vīsala*, too, *Vastupāla*'s influence visibly declined; another minister, a *Nāgar Brahman*, named *Nāgada*, was appointed and *Vastupāla*, who, according to a stipulation which he had made when he accepted the ministership, was allowed to keep all the property which he possessed when he entered on his duties, retired into privacy. One of the *Prabandhas* says that it was *Someśvara*, the author of *Kīrtikaumudī* who saved *Vastupāla* from being tried by an ordeal for peculation. While *Siṁha*, a maternal uncle of *Vīsaladeva*, was passing on horseback by a Jain monastery, a servant threw down, from one of the upper floors of the building a quantity of sweepings which fell upon the head of *Siṁha*. Dismounting from his horce and entering into the building, he struck the servant on his back with his long whip and went home. When the minister heard of this, he called together his men, and asked if there was any among them who would avenge the wrong. One *Bhuvanapāla* stepped forward, and promised to do so even at the cost of his life. The minister told him to cut off the right hand of *Siṁha* and bring it to him. The daring Rajput undertook to do it, and going near *Siṁha*, under the pretence of delivering a message from *Vastupāla*, cut off his hand and carried it to *Vastupāla*, who ordered the same to hung up at the top of his house. The minister foreseeing trouble, put his house in a state of defence, and called upon those to withdraw who wished to save their lives. None left the house. *Siṁha* who belonged to the *Jeṭhuyā* family, called all his relatives and friends together, and set out to wreak vegeance upon *Vastupāla*. When on their way the party came to the palace, one of the elderly men went to the king and told him what had happened.

The king thought *Vastupāla* would never do such a thing unless he had sufficient reason, and promised to inquire into the affair himseif. He asked *Someśvara*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

how the minister could do such a thing. *Someśvara* offered to go and speak to *Vastupāla.* The king consented. *Someśvara* called upon *Vastupāla,* and explained to him how his rash act had roused all the *Jeṭhuyās. Vastupāla* said he was prepared for the worst, and did not care for his life. *Someśvara* returned to the palace, and told *Vīsaladeva* that *Vastupāla* was prepared to die in defending himself. He represented to the king how it would be noble to overlook one fault of a man who had rendered such singal services to the state. He said that the minister's life was very valuable, and might be spared for some critical occasion. The king relented. He asked *Someśvara* to bring *Vastupāla* to the court. He came, but fully armed for fight. At his sight, the memory of all his obligations came to *Vīsala*'s mind, and he humbly pacified his anger, behaving towards him with all the respect one would pay to his father. He strongly censured *Siṁha* for having struck a servant of the *Śrāwaka* temple, and threatened to punish him severely. Soon after this, the minister had an attack of fever. In 1287 *Samvat,* when *Narachandrasūri* died, he had predicted that 1298 *Samvat* would be the minister's last year. The year had come. The minister made up his mind to go to *Śatruñjaya.* Before setting out on his last journey, he called the minister *Nāgada,* and recommended the followers of the *Jaina* religion to his care. The *Brāhmaṇa* minister promised to pay all respect to *Śvetāmbaras,* and told the minister not to be anxious on that account. *Vastulpāa* started to go to *Śatrnñjaya,* but became worse on the way, and died at the village of *Ankevalia. Tejahpāla* and *Jayantsimha,* the son of *Vastupāla,* performed the obsequies on the *Śatruñjaya* hill, and built a temple on the spot called *Svargārohaṇaprāsāda.*

V

The *Jaina* accounts of these ministers are naturally more detailed and faithful. There are some facts given therein to which a *Brāhmaṇa* admirer has naturally not given prominence. It is stated in those accounts that *Vastupāla* and his brothers were the fruit of the second marriage of their mother. The statement runs as follows :- In the city of *Paṭṭaṇa, Haribhadrasūri,* a *Jaina* priest, while preaching once, constantly looked at a young widow, who was exceedingly beautiful, and whose name was *Kumāradevi.* One *Aśvarāja* remarked this, and, after the *Purāṇa* was over, asked him the reason. He replied that the widow was destined to be the mother of sons who would be like the sun and the moon of the *Jaina* religion; *Aśvarāja* on hearing this, went to the father of the widow and entered his service. In time he succeeded in ingratiating himself in the favour of the widow and her father, and married her. The prophesy was fulfilled, and he became the father of *Vastupāla* and *Tejahpāla* and several other children. According to these accounts, when *Vastupāla* and *Tejahapāla* took up the ministerial duties, they made a condition that, at the termination of their office, they should be allowed to retire with all the property they possessed at the time when they entered upon their office. The impulse which led to the building of these temples is said to have been given by *Anupamā,* the wife of *Tejahpāla.* When the ministers found they had amassed a good deal of wealth, they began to think how they could keep it secure. Once while engaged in this deliberation, they did not notice that it was growing late, and that the time of the evening meal had nearly gone. *Anupāmā,* after sending servants to remind them several times, came to tnem, and making them

leave their deliberation, asked them what they were thinking about. When they explained their difficulty to her, she told them that the best way to dispose of their wealth was to keep it on the top of mountains in such a way that every body could see it, but none could misappropriate it. She explained her meaning by stating that it should be devoted to the building of temples on mount *Abu*, *Śatruñjaya* and *Girinār*. The ministers listened to her advice, and proceeded to execute the plan. The *Prabandhas* say that the work on mount *Abu* was progressing very slowly, and the ministers being-dissatisfied with the men in charge, went to see the state of things for themselves. When they found it was too cold for the workmen to go and work, at the recommendation of *Anupamā*, they ordered that each workman should have provided for him a fire to warm himself with while he working, and that ready dinner should be provided for all the operatives in the evening.

The way in which *Vastupāla* and *Tejahpāla* became possessed of funds where with to raise these superstructures is, by the *Jaina* chroniclers, described as follows :– When *Vastupāla* was appointed governor of *Stambhatīrtha*, he found that a *Mohemedan* merchant, whose name was *Syed*, did not submit to his authority. He refused to see him and pay him homage, where upon *Vastupāla* declared hostilities with him. *Syed* called *Śankha* to his aid, *Vastupāla* defeated him in a battle, though his army was more numerous. *Syed* was apprehended all his property was confiscated. When the victory and confiscation were reported to *Lavaṇaprasāda*, he ordered that all valuables should be credited to the account of the state. *Vastupāla* had reported that the merchant was so rich that even the dust in his house–गृहरेणु (which probably meant trifling things) was of great worth. The prince assigned the 'dust' to *Vastupāla*. Shortly after this, some of the ships of *Syed* took fire, and, it is said, a large quantity of valuable metals was reduced to रेणु dust, which, by the king's order, became the property of *Vastupāla*.

In *Vastupāla charita* of *Harshagaṇi*, it is mentioned that when they went to a place, in *Kathiavad*, called *Haḍālaka* to bury under-ground the wealth they had obtained, they found, when they dug into the earth, an immense treasure. Some say they applied this to the building of temples and other public works by the advice of their mother. Others say that while the brothers were once consulting as to what they should do with their money, they heard a *Jaina* ascetic recite the following verse :–

[1]कोशं विकाशय कुशेशय संश्रितालौ, प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ते ।
दोषोदये निबिडराजकरप्रतापे, ध्वान्तोदये तव समेष्यति कः समीपम् ॥

1. The meaning of the verse is not very clear. I understand it as follows:–Oh lotus, since it is the daytime, favourable to you, open your bud and show love towards the bee that seeks your resorts; at night who will come near you when it will be dark, or when the rays of the moon will inflict upon you severe pain.

Several words in this verse have a double meaning. In addition to the meaning assigned in the foregoing translation, कोश means a treasure; संश्रितालौ means on the class of protegés; दोषोदये, when an accusation is brought; निबिडराजकरप्रतापे may mean when the oppression caused by the exactions of the king is great. Consequently, the verse suggests the idea that a man should open his treasure and be kind to the poor about him while his prosperity lasts. No one will come near him when he is in difficulty and harassed by the accusations and demands made by the king.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

When they heard this verse, and revolved in their mind the double meaning it conveyed, they thought it was a providential warning expressly given to them; and foreseeing the loss of royal favour, devoted their money to charitable purposes. It appears from the Prabandhas that *Vastupāla* associated very much with *Brāhman* Panditas. This brought on him the remonstrances of *Vijayasenasūri*, their father's priest, which, being strongly supported by their mother, made them turn the current of their charity more towards the *Jaina* religion.

The society of learned Hindoo Panditas is described as having affected *Vastupāla*'s religious opinions to a very great extent. One of his *Jaina* biographers states that he had even put on the *Anantadoraka*.[1] *Vijayasenasūri*, who always used to complain of *Vastupāla*'s Hindoo tendencies to his mother, pointed this out as a proof his assertion. This brought matters to a crisis. At the bidding of his mother, *Vastupāla* cut off the *Anantadoraka*, and began to abide strictly according to the advice of his hereditary religious teachers.

I shall briefly state here some of the important facts detailed in the *Chaturvinśatiprabandha* with regard to *Vastupāla* and *Tejahpāla* and their chiefs.

Soon after *Vīradhavala* and his minister *Tejahpāla* had commenced their victorious career, they went to *Wāmanasthalī* to conquer the ruler of the place. The two young Rajputs, named *Sāngana* and *Chāmuṇḍa* the brothers of *Jayataldevī*, the wife of *Vīradhavala*, refused to submit. *Jayataldevī* who knew the power of her husband, advised them to avert hostilities by making homage and rich presents to *Vīradhavala;* but the proud brothers would not listen. In the desperate fight which ensued, *Vīradhavala*'s life was in imminent, and both armies raised the cry of his being killed; but all of a sudden *Vīradhavala*, appeared mounted on his famous horse *Uparavaṭa*, and, accompanied by the follower of his army, proceeded personally against *Sāngana* and *Chāmuṇḍa*. The two brothers manfully met him, and both were slain. The wealth for which *Wāmansthalī* was celebrated, the hoarded treasures of generations, fell into the hands of the king.

Once three Rajaputs, *Sāmantapāla*, *Anangapāla* and *Trilokasinha Bhāyāts* of the king of *Jābālipur*, came and offered their services to *Vīradhavala*. *Vīradhavala* was pleased with their address and bravery, but on being told that their terms were a lack of coins, (*Dramma*) of *Lūnasāpurī*, told them that a thousand warriors could be maintained by that sum, and that he had no need for their services. *Vasupāla* and *Tejahpāla* requested the king to secure their services, stating, as their reason, that men were more valuable then money; but the king paid no attention to the advice, and dismissed them. The offended Rajaputs went to *Bhīmasinha*, the king of the sea-coast town of *Bhādreśvara*, with whom *Vīradhavala* had already declared war on his having refused to render submission. *Bhīmasinha* at once accepted their terms and entertained their services. At their instigation he sent a fresh defiance to *Vīradhavala*, and appointed *Panchagrāma* as the place of the combat. The two ministers told the king that his enemy, *Bhīmasinha* had strengthened his hands by securing the services of the three Rajaputs, but assured

1. *Anantadoraka* is a silk cord knotted in a prescribed way, with certain spells pronounced over it, it is supposed to represent god *Vishṇu*. The day fixed for its worship is the fourteenth of *Bhādrapada*. The cord is kept on the arm by some during the whole year.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

him, at the same-time, that they were still more than a match for *Bhīmasinha*'s army; and that they should set out at once for the place appointed for the battle. On the night before the battle the three Rajaputs sent a word to *Vīradhavala* that he should keep in readiness for his protection the numerous soldiers he had kept by the three lacks of coins which he had refused them. The king politely replied that the next day's fighting would decide the question. In the battle which ensued, the three Rajaputs broke through all those that defended *Vīradhavala*, and pointed their spears at his forehead, but spared his life in consideration of the *Viḍā* they had eaten at his court. However, *Vīradhavala* was thrown from his horse *Uparavaṭa*, who was seized by the three Rajaputs. The fighting for the day ceased, but *Vīradhavala* was none the worse for the casualties of the day. The ministers of *Bhīmasinha* advised him to make peace. *Bhīmasinha* sent back *Uparavaṭa* to *Vīradhavala*. Peace was made. By and by *Vīradhavala* became more powerful, and having conquered *Bhīmsinha* destroyed his power.

There was a king named *Ghughula*, who reigned at *Godraha*, in the district of *Mahītaṭa*. He seized the goods of the merchants who came to trade with Gujarat. *Vastupāla* and *Tejahpāla* sent messengers to remonstrate with him, and advised him to abide by the commands of *Vīradhavala*. *Ghughula* in return sent a box of eyewash and a pair of women's clothes to him, to show that he regarded him, along with other kings, as no better than his mistresses. *Vīradhavala* called together his chiefs, and asked if any one would offer to undertake an expedition against *Ghughula*. *Tejahpāla* alone offered to go. He went and stationed his army at a distance from *Godraha*. He detached a small number of soldiers to go into the proximity of the town and seize the cows of the cowherds. When the cowherds came to the town to complain of it, *Ghughula* went at the head of a small force to punish the offenders. The minister's soldiers feigning a flight, drew *Ghughula* towards the minister's army. *Ghughula* did not perceive the manœuvre until he came face to face with the minister's army. Without losing courage, he sent a word to his chiefs to come to his succour, and commenced fighting at once. He succeeded in dispersing the minister's army; but *Tejahpāla* with seven Rajaputs determined to conquer or to die, and held fast. The example encouraged the worsted soldiers to return to the fight. *Tejahpāla* forced his way up to *Ghughula* and challenged him to a duel. The challenge was accepted. The minister threw *Ghughula* from his horse, and took him alive. He was confined in a wooden cage and sent to the king. All his wealth was seized. *Vīradhavala* caused the box of eyewash, which *Ghughula* had sent to be tied around his neck with a string, and he was made to wear the pair of clothes he had sent. Unable to bear this disgrace *Ghughula* killed himself by biting off his tongue.

Chaturavinśatiprabandha says that the victory over *Ghughula* enabled *Vastupāla* to extend the sway of *Vīradhavala* to the borders of *Mahārāshtra*.

The same *Prabandha* also mentions that *Vastupāla* was directed to proceed against *Sultan*[1] *Moujadin*[2]. Being forewarned that the army of the *Sultan* was going to enter by side of the *Abu*[3] mountain, he directed *Dhārāvarsha*, the king of

1. This word is Sanskritized and written as सुरत्राण.
2. *Muizuddin Baharamshah.*
3. The warning is said to be given by *Mahaṇadevī*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Abu, who owed allegiance to *Vīradhavala*, to keep himself in a state of readiness. He advised him to let the Mahomedans pass southwards, and then close the mountain passes against their return. The plan succeeded. The Mahomedans being attacked by *Vastupāla* in the front, and pressed by *Dhārāvarsha* in the rear, became panic-stricken. The slaughter which ensued was great. Cart-loads of their heads were sent to *Vīradhavala* at *Dholka*.

Some years after this the mother of *Moujadin* started on a pilgrimage to *Mecca*. Having heard this news from his messengers, he ordered his sailors to take possession of all her property and bring the same to him. This being done, the captain of the ships employed by Moujadin's mother came and complained to *Vastupāla* that pirates had robbed the property of an old Mahomedan lady, their passenger. On their stating further that she was the mother of *Moujadin*, *Vastupāla* received her with the greatest respect, and feigning to have caught the pirates, restored the property to her. He showed her every mark of respect, and provided most carefully fot her comfort and safety. On her way back to *Delhi*, she insisted upon *Vastupāla*'s accompanying her. With the permission of *Vīradhavala*, *Vastupāla* went to Delhi. He was received there with great honour. He obtained from the emperor a promise to keep friendship with *Vīradhnvula*, and, for himself, five large pieces of marble, of which he caused statues to be made to be placed in Jaina temples. On his return *Vīradhavala* received him with great pomp and distinction. *Merutunga* in his *Prabandhachintāmaṇi*, says it was not *Moujadin*'s mother, but his religious preceptor who led to the formation of friendship between him and *Vīradhavala*. Merutunga further says that *Vastupāla* saved the emperor's preceptor from the violence of the father and the son, *Lavaṇaprasāda* and *Vīradhavala*, as a sheep from two foxes. Such are the principal facts which may be gathered from Jain compositions.

It seems clear from the account given in this book and several inscriptions of the time that *Lavaṇaprasāda* and *Vīradhavala* though they had cast *Bhīmadeva* into shade, had not yet formally assumed the title of the kings of *Paṭṭaṇa*.[1] As is often the case among the Hindus, those who actually attain high power by the strength of their arm rather take a pride in keeping formally their former status, and rendering cheerfully, or even boastfully, submission to the hereditary monarch, who has it no longer in his power to compel it by force. It may well be illustrated by the attitude of the First Maratha conquerors towards the Emperor of *Delhi*, and that of the *Peishwas* towards the *Mahārājās* of *Sattara*. The *Peishwa* held a grand *Durbar* at *Poona* for the assumption of the title which *Sindia* had obtained for him from the fallen emperor of *Delhi*, and no *Peishwa* ever assumed authority without going through the form of obtaining the robes of state from *Sattara*. However, those who succeed these great men by right of birth have not got for their satisfaction the true glory of personal achievements, and they become impatient of the acknowledgment of fictitious subordination. By this time the old dynasty also has generally lost its hold on the affections of the people, and a public assumption of soverign power by the new line does not give much offence to any

1. One of the *Prabandhas* says that *Vastupāla* proposed to *Vīradhavala* that he should assume the title of *Mahārāja*, but *Vīradhavala* did not approve of it. He said he was contented with his title of *Rāṇaka*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

one. Thus, it would appear that *Vīsaladeva* put his foot on the step from which *Lavaṇaprasāda* and *Vīradhavala* kept themselves back half out of chivalry and half out of policy. In the grant of *Vīsaladeva*, the title *Mahārājādhirāja* is applied to him, though up to his time the kings of the house of *Paṭṭaṇa* alone were considered as entitled to it. The last mention I have found of the king of *Paṭṭaṇa* is in connection with *Lavaṇaprasāda*'s having asked for money in a friendly manner from *Bhīmadeva*. There is no mention anywhere of any actual hostility between the house of *Dholka* and *Paṭṭaṇa*. *Bhīmadeva*, though personally valiant, seems to have allowed himself quietly to be superseded by his ambitious kinsmen, first in actual power and then in rank.

VI

In concluding this introduction, it remains for me to acknowledge that the publication of this book is entirely due to Doctor G. Bühler. He lent me two manuscripts, one, A, a copy of some old manuscript made for him, and another, B, which he had borrowed from Mr. Javerilāl Umiaśankara. He also handed over to me a portion of the poem copied out by him for the press, and obtained the permission of the Director of Public Instruction for the inclusion of this Publication in the Bombay Sanskrit Series. Besides, I am indebted to him for pointing out most of the sources of information which I have embodied in these pages. In fact, but for him I should not have been able to do the little I have done. For the third manuscript I got later on, I am indebted to Mr. Vrajalal Shashtri, of the Gujarat Vernacular Society. All the three manuscripts seem to be copies of the same original manuscript, the differences they show being generally due to the varying intelligence or rather ignorance of the copyists.

GUJERAT COLLEGE,
21st September 1883.

A. V. K.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Professor G. BUHLER's critical study of THE SUKRITASAMKIRTANA OF ARISIMHA

★

(TRANSLATED FROM THE GERMAN OF THE LATE PROFESSOR G. BÜHLER, C.I.E., LL.D., VIENNA BY E. H. BURGESS, UNDER THE DIRECTION OF JAS. BURGESS, C.I.E., LL.D.)

Published in the INDIAN ANTYQUARY, Vol. XXXI (1902) (Pp. 477-495)

[The paper, of which the following is a translation, appeared in the *Sitzungs-berichte* of the Imperial Academy of Sciences of Vienna (Vol. CXIX., 1889), and some copies of it were struck off in a separate form, chiefly for distribution to friends. There are many scholars, both in Europe and India, who are interested in the subject of the paper but are not familiar with the German language; to them, the following translation is offered in order to make its contents accessible.—J.B.]

In my *Report on the Search for Sanskṛit* MSS., 1879-80, p. 5, I announced the discovery of *a historical poem* which bears the title *Sukṛitasaṁkīrtana,* and was composed by *Arisiṁha* in honour of his patron, the Jaina *Vastupāla,* who served the *Vāghelā* prince *Rāṇaka-Vīradhavala* of *Dholkā* and his son *Vīsaladeva* as minister from *Vikrama-Saṁvat 1276 to 1296 or 1297.* Although since then, by the publication of *Someśvara's Kīrtikaumudī,* the most important source concerning the origin of the power of the Vāghelā dynasty of Gujarāt, has become generally accessible, yet a discussion of the contents of *Arisiṁha's* poem will not be superfluous. For this touches on several details about which *Someśvara* is silent, and gives new and in part valuable accounts of other incidents. The manuscript which I have used for the following examination is No. 302 of my collection in the library of the India Office. This was copied in August 1880 from the same original in Ahmadābād from which No. 415 of the Dekhan College Collection of 1879-80 was taken; and it was then carefully collated with No. 411 of the Dekhan College Collection of 1880-81. It is therefore, — with the exception of the confusion between the sibilants, between *a* and *i, ra* and *ṛi,* as well as *ṭa* and *ṭha,* — pretty free from errors, and text is almost throughout easily intelligible.

THE CHARACTER AND ARRANGEMENT OF THE WORK

The *Sukṛitasṁkīrtana* is, as the inscription of each canto intimates, a *Mahākāvya* or artistic poem, composed according to the rules of prosody, and it contains 11 Sargas with **553** verses. Five verses at the end of each Sarga are due not to Arisiṁha but to Amarapaṇḍita. It says, I. 46:- "In this work which *Arisiṁha* composed, *Amarapaṇḍita* wrote these four last verses canto by canto."† The number

† The German original is accompanied by the Sanskrit text of the passages that are translated in this paper.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

refers to the preceding four verses 42–45, and the fifth, which is repeated at the end of each Sarga, is not reckoned. These verses have no close connection with the contents of the preceding parts. The first three either contain general praises and blessings upon Vastupāla or mention incidents not described by Arisiṁha. The fourth always names Arisiṁha as the author of the work and praises his poetic skill.

The titles of *the separate cantos* are as follows :-

I. — *Chāpotkaṭānvyavarṇana,* Description of the Chāpotkaṭa dynasty (of Gujarāt), 46 verses; principal metre, Vasantatilakā.

II. — *Chaulukyānvayavarṇana,* Description of the Chaulukya dynasty (of Gujarāt), 56 verses; principal metre : Upajāti.

III. — *Mantriprakāśa,* Appearance of the ministers, 67 verses; principal metre : Anushṭubh.

IV. — *Dharmopadeśana,* Instruction in the holy law, 49 verses; principal metre : Rathoddhatā.

V. — *Saṁghaprasthāna,* Departure of the (Jaina) congregation, 55 verses; principal metre : Vaṁśastha.

VI. — *Sūryodayavarṇana,* Description of the sunrise, 40 verses; principal metre : Mālinī.

VII. — *Śatruṁjayadarśana,* Visit to Śatruṁjaya, 48 verses; principal metre : Svāgatā.

VIII. — *Śrī-Nemidarśana,* Visit to (the shrine of) the divine Neminātha, 48 verses; principal metre : Pramitāksharā.

IX — *Shaḍṛituvarṇana,* Description of the six seasons of the year, 56 verses; principal metre : Drutavilambitā.

X — *Purapraveśa,* Entrance into the town (Dholkā), 47 verses; the metres vary every two verses or still more frequently.

XI — Enumeration of Vastupāla's buildings, 41 verses; principal metre : Vasantatilakā.

Besides the metres already mentioned, the following also occur in single verses : Āryā, Indravajrā, Upendravajrā, Pushpitāgrā, Mañjubhāshiṇī, Mandākrāntā, Śārdūlavikrīḍita, Śikhariṇī and Sragdharā. Amarapaṇḍita usually begins his first verse in the metre with which Arisiṁha ceases. In spite of the pains both poets have taken with the versification, it often happens that the first and third foot of a verse stop in the middle of a simple word. And although the really distinguished poets often use the weak cæsura by ending the first *pādas* of a half verse with one part of a compound, yet they avoid dividing simple words. This abuse first occurs in later poetasters. The more difficult feats of art, like Pratilomānuloma, Gomūtrikā, etc., neither Arisiṁha nor Amarapaṇḍita has tried. On the other hand, there are numerous *anuprāsas* or alliterations, and — although more seldom — even *yamakas* or rhymes. As for the diction, one easily perceives the zealous striving to vary the turnings of the classical models, and to find new expressions or figures. The result is not a brilliant one, however, and the *Sukṛitasaṁkīrtana* nowhere rises above the level of the mediocre. At some points one may doubt whether the

9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

authors are quite sound in grammer. Once, I.44, the MS. gives the form *asisnapat*, and again VII.38, *asasnapat*. It is possible, however, that these are clerical errors. In another place, VII.43, there is the incorrect form *pratilābhita*. One peculiarity is the abrupt commencement of the poem which has neither an introduction for a long *maṅgala*. The *maṅgala* is represented only by the word *Śrī* with which the first verse begins.

THE AUTHOR AND HIS TIME

All that we learn from the poem about *Arisiṁha* is that his father was called Lāvaṇyasiṁha, VIII.48, or Lavaṇasiṁha, X.46. The latter is, of course, the form really used in ordinary life. We may further infer from the whole manner of representation that the poet belonged to the Jaina sect. Since his own and his father's name both end in *siṁha*, it is probable that they were both Rājputs. We learn something more about him from his assistant Amarapaṇḍita or Amarayati, whose full name is Amarachandra, and from the later *Prabandhas* of the Jainas. Amarachandra, pupil of Jinadattasūri, was the author of a series of works, among which the *Bālabhārata*, published in the *Paṇḍit* of 1869 ff., the 'instruction for poets', called *Kāvyakalpalatā* (*Kaviśikshā*), and the *Kāvyakalpalatāparimala*[1] have been known for a long time. In the introduction to the second work he says that the aphorisms in it are composed partly by himself, partly by Arisiṁha. It is said there, I.2:-"Whilst I esteem the *Kavitārahasya*, of the excellent poet Arisiṁha, who, like the full moon, causes the great ocean of the nectar of poetry to swell, on account of extempore composition, I shall comment upon the aphorisms composed partly by me, partly by him."[2] From this it follows, first, that Arisiṁha wrote a handbook of poetry with the title *Kavitārahasya*, and, secondly, that the text of the *Kāvyakalpalatā* was written by him and Amarachandra in common.

More is contained in Rājaśekhara's *Prabandhakosha*, in which the thirteenth part is dedicated to the poet Amarachandra. It is narrated there that *Amarachandra*, pupil of *Jinadattasūri*, received the charm called *Siddhasārasvata* from an unnamed *Kavirāja*, *i. e.*, from a man who bore the title poet-prince. Through the proper use of the same, Amarachandra compelled the goddess of eloquence to appear to him, and obtained grace from her to become a perfect poet, honoured by all princes. He then wrote the first and second of the above-named works as well as the *Chhandoratnāvalī*, the *Sūktaratnāvalī*, the *Kalākalāpa*, and later, 'upon the word,' *i. e.*, at the desire of a patron, the *Kaushṭhāgārika Padma*, the *Śāstra* called *Padmānanda*. Rājaśekhara further records that Amarachandra, after various adventures arrived at the court of Vīsaladeva, king of Dholkā, and won his favour. Once, it continues, the king asked him : 'Who is thy teacher in the fine arts ?' Amara said : 'The poet-prince *Arisiṁha*'. 'Then bring him to me to-morrow morning' (answered the king). The following morning Amarachandra led the poet before the king. The king sat leaning on his sword and asked : 'Is this the poet-prince ?'

1. That the third work, a super-commentary to the second, comes from Amarachandra himself; it says at the end of *Kāvyakalpalatā*, 1.5 : *etachhchhlokoktavarnyānāṁ viśeshāntarāṇi kavisamayodāharaṇāni mathritakāvyakalpalatāparimalāj jñeyāni*.

2. See Aufrecht, *Catalogus cod. S. M. Bibl. Bodleianoe*, p. 210b. In the beginning of the second Pāda, MS. No. 119 of my collection has *matvā* instead of *natvā*, and I translate accordingly. Compare also Bhāṇḍārkar, *Report on the Search*, etc., 1883-84, p. 6.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

He answered : 'Om.' Then the king said : 'Recite something suitable to the occasion'. Thereupon Arisiṁha recited four verses in which he praised Vīsaladeva's sword. The prince was so charmed that he bestowed a permanent appointment and a high salary upon the poet. Soon afterwards the salary was doubled because he sang in a masterly manner of a blade of grass which the king held in his hand.

Like the records of most of the *Prabandhas*, this one also contains, besides what is undoubtedly correct, much that is not so. In the first place it is true that Amarachandra wrote a work called *Padmānanda*. Peterson found it and bought it for the Bombay Government (see *First Report*, p. 126, No. 285). From the extracts given there from the Cambay Library MS., it appears that it bears also the title *Jinendracharita* and is a *Mahākāvya*, containing 12 Sargas (*cf.* also Peterson, *loc. cit.* p 58).

The statement, then, that *Arisiṁha* was the teacher of *Amarachandra* in the fine arts agrees with the contents of the above second verse of the *Kāvyakalpalatā*. The reverential way in which Amarachandra expresses himself in his verses about Arisiṁha speaks for the same thing :-

I. 45. — " Arisiṁha, a lion for his elephant-like opponents, composed this work, which like the glances of the ever-gracious Vastupāla, dispenses rivers of nectar."

VIII. 48. — " This work, a flood of beams from the moon of the face of Lavaṇyasiṁha's son, which draws off the swarms of bees from these waterlilies, the faces of the unworthy, produces, mighty waves in the milk-ocean of fame of the excellent minister and prince Vastupāla. "[1]

Only a pupil speaking of his teacher, or a client of his patron, would express himself thus.

On the other hand, the *Prabandha* is incorrect in stating that Amarapaṇḍita and, through him, Arisiṁha came to the court of Dholkā only during the reign of Vīsaladeva, circa Vikrama-Saṁvat 1296 to 1318. For soon after Vīsaladeva's accession *Vastupāla* lost his high position and died, as Narachandra had prophesied, in the Vikrama year 1298.[2] From the *Sukṛitasaṁkīrtana* it is apparent, however, that it was written when the minister was in the zenith of his power. This is proved, for instance, by two verses at the end of the first and second cantos:-

I. 42. — " Daily, illustrious prince of the council, Vastupāla, the Brāhmaṇas cry blessings on you : " Long may you live ! " — the bard princes : " May you attain the age of Brahmā ! "— and noble women : " May you never grow old and be immortal ! " But I will also say something : " May you rejoice in your life as long as your far-reaching fame dances in the sky. "

II. 52—" Heavenly (wishing) cow, (paradise) trees, (wish-fulfilling) precious stones ! Why hide ye yourselves in the tottering rocks of the divine mountain

1. The swarms of bees are the admirers, who formerly hung upon the lips of the bad poets, but now turn to Arisimha.

2. *Kīrtikaumudī*, pp. xviii-xix; *prabandhakosha*, p. 288 :- *Śrī Vastupālo jvarārugleśena poḍitastejaḥpālaṁ sputrapautraṁ svaputraṁ cha jayaṁtasiṁhabhāshata.*

Vatsaḥ Śrī Narachandrasūribhirmaladhāribhiḥ 1987 varshe Bhādrapada Badi 10 dine divagamanasamaye vayamuktāh.

Mantrin 1268 svargārohaṇam bhavishyati. ।

(Meru) ? Adorn the earth; nobody demands you ! May the illustrious minister Vastupāla alone live for ever ! "

It is hence certain that both poets stood in close relation to the minister who served Vīsaladeva's father, and their connection with him, according to the last verse, is scarcely doubtful. For when an Indian poet praises the generosity of his hero in the above manner, it is a certain sign that he has either experienced the same or hopes to do so. There are, however, a number of other passages which make it still clearer that Amarachandra and probably also Arisiṁha belonged to Vastupāla's suite of poets which the *Prabandhas* often mention. The next verse, II.54, ought to suffice to convince the most incredulous. It says:—" Poverty has resignedly deserted so completely those men who continually rejoice in praising Vastupāla that she, indolent in spite of the command of the gods, does not even cross the threshold of their neighbours' houses. " That is to say, in simple prose, that the singer and other poets were well paid by *Vastupāla*. If one must accept from this that Rājaśekhara places the prime of Amarachandra and Arisiṁha too late,[1] it need not therefore be concluded that they had no connection with *Vīsaladeva*. It is very possible that they kept themselves in favour at the Court of Ḍholkā after Vīradhavala's death and the fall of Vastupāla.

As *the exact date of composition of the poem* we need not be content to ascribe it merely in general to the period of Vikrama-Saṁvat 1276–1295 or 1297, during which Vastupāla occuiped his high position. It will be seen later, from the comparison of his statements concerning Vastupāla's buildings with the inscriptions, that it was probably written about the Vikrama year 1285. It is probably some years younger than the *Kīrtikaumudī*. The *Sukṛitasaṁkīrtana* seems never to have found much esteem even with the Jainas. Neither Rājaśekhara in the *Prabandhakosha*, nor Jinaharsha in the *Vastupālacharita*, quotes it, although the latter gives long extracts from older sources. Both follow Someśvara's *Kīrtikaumudī*, the greater fame of which put the poem of the less distinguished Arisiṁha in the shade. Its author Arisiṁha is perhaps mentioned in Sārṅgadhara's *Paddhati*, where a verse of a certain *Arasī-Ṭhakkura*, No. 76 (Peterson's edition), is mentioned. Arasī stands for Arisī, and is a quite correct Prakrit form of Arisiṁha (see *Ueber das Navasāhasāṅkacharita*, p. 39), which is still frequently used in Gujarāt. The identity of the two persons is, of course, by no means proved by the similarity of their names, but is only a possibility.

NOTES ON THE HISTORY OF THE CHAUḌAS AND CHAULUKYAS.

The first Sarga, which contains the genealogy of the Chāpoṭkata or Chauḍā kings, gives the following names :-

I. — *Vanarāja*	...	...	... Verses	1-26
II. — *Yogarāja*	...	...	... ,,	27-28
III. — *Ratnāditya*	...	...	... ,,	29-30
IV. — *Vairisiṁha*	...	...	... ,,	31-32
V. — *Kshemarāja*	...	...	... ,,	33-34
VI. — *Chāmuṇḍa*	...	...	... ,,	35-36

1. As a further proof of this, it may be mentioned that the Cambay MS. of the *Padmānanda-Kāvya* was written in the Vikrama year 1297.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

VII. — *Rāhaḍa* ... ... Verses 37–38
VIII. — *Bhūbhaṭa* ... ... „ 39–41

The verses dedicated to these kings contain almost nothing but conventional flatteries in which no historical events are mentioned. *Vanarāja* and *Bhūbhaṭa* are the only exceptions. As regards the first, it is mentioned in verse 9 that he founded the city of *Aṇahilapāṭaka* or Aṇhilvād, and verse 10 that he built there the temple of Pañchāsara-Pārṣvanātha. Both statements are found in most of the later Jaina *Prabandhas*, and are therefore of no special interest. On the other hand, the statement, verse 41, that *Bhūbhaṭa* ruled the earth long, is of some significance and also the arrangement and number of the Chāuḍā kings. For both entirely disagree with the statements in Kṛishṇājī's *Ratnamālā*, in some MSS. of Merutuṅga's *Prabandhachintāmaṇi*,[1] and in later works, like Jinamaṇḍana's *Kumārapālacharita*, Jinaharsha's *Vastupālacharita*, and Dharmasāgara's *Prāvachanaparīkshā*.

All these works recognise only seven instead of eight Chāuḍā kings, whose succession differs from the above, and they ascribe to the last a reign of only seven years. On the other hand, our list is almost identical with that contained in Merutuṅga's *Therāvali*,[2] and in the Bombay edition of the *Prabandhachintāmaṇi*, pp. 35–38.[3] In the *Therāvali* there are differences only with regard to the names of the seventh and eighth kings. The former is called not *Rāhaḍa*, but Thāghaḍa or Ghāghaḍa, and the latter not *Bhūbhaṭa* but Pūada. Pūada is doubtless a clerical error for Bhūyaḍa or Bhūvaḍa, which is the usual Apabhraṁśa form for Bhūbhaṭa in the *Prabandhas*. Instead of Thāghaḍa or Ghāghaḍa, *Rāghaḍa* is to be read, which may be the same as *Rāhaḍa* if the original form of the name be Rāghavabhaṭa.[4] The edition of the *Prabandhachintāmaṇi* has the form Ākaḍa, which differs still more strongly. On the other hand, it gives for Bhūbhaṭa the form *Bhūyaḍa*,[5] which one expects.

The reign of this last prince extended to 19 years according to the Therāvali, whilst the *Prabandhachintāmaṇi* edition gives even 27. The latter number would, of course, agree best with the expression *chiram*, ' long '. In comparision with the apparently more authentic traditions of Kṛishṇāji (which, moreover, have been printed from bad MSS.) the statements of the *Therāvali* have hitherto received no consideration. The narrative of the seven Chāuḍā kings, the last of whom is said to have been murdered after a seven years' reign by *Mūlarāja*, his sister's

1. Thus No. 296 of my collection and Bhāū Dāji's MSS., Jour. *Bo. Br. R. A.Soc.* Vol. IX. p. 157.

2. See *Jour. Bo. Br. R. A. Soc. loc. cit.*

3. The passage is in parenthesis in the edition. Also the narrative which follows in the text shews that the MS. which forms the groundwork differs considerably from the other known ones

4. It is quite possible to find for the seventh Chāuḍā king in the *Sukṛitasaṁkīrtana* a nam which comes very near the Ākaḍa given in the published edition of the *Prabandhachintāmaṇi*. W can divide I 37, *prabalaśatruyaśah śaśāṅkaśrīvāhur āhaḍa iti*, by which means the form Āhaḍa i obtained. This much may be said for this division, that we gain thereby a construction exactl corresponding to that in verses 27, 31, 35, etc., and also that the word Āhaḍa, which might stan for the Sanskṛit Āhavabhaṭa (compare Āhavamalla), would be quite a suitable epithet for a king Nevertheless I hold it probable that the name was Rāhaḍa; for I do not believe that the poet woul have lighted upon the alliteration *rāhurāhadaḥ* if the name had not begun with *rā*. Then the certainl corrupt forms Thāghaḍa and Ghāghaḍa tend to prove that the initial was a consonant.

5. Or Bhūyagaḍa.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

son, and of the Chaulukya prince *Rājī*, is unhesitatingly accepted, though it contains the absurdity of Rāji's marriage having taken place and his son having grown up, within these seven years.[1] It is plain from Arisimha's statements that the *Therāvali* does not stand alone in its representations, but rests upon older traditions. Since Krishṇāji's *Ratnamālā* is perhaps as old as the *Sukṛitasaṁkīrtana*, the two contradictory accounts of the Chāuḍā kings existed at least in the thirteenth century, and probably earlier still. It must be left to the future to establish their real history when authentic documents are found. For the present we must be content with the conclusion that the version current in India, through Forbes's *Rās Mālā*, has no particular claim to be received and was not uncontested in the tradition.

The notes about *the Chaulukya kings* in Sarga II, are considerably fuller. Of the first king *Mūlarāja* it is related that he particularly venerated Somanātha, and it is said, verse 3:-" Which hero (Mūlarāja), plainly proving his veneration, prostrated himself every Monday before Somanātha and obtained great splendour and fame from the hot flames out of the eye on the forehead of that god. "

Possibly Arisimha knew the absurd legend of the *Prabandhachintāmaṇi*, p. 43, according to which Mūlarāja made a pilgrimage every monday to Somanāthapaṭṭaṇa near Verāval, until the god, to please the king, settled first nearer Aṇhilvāḍ in *Maṇḍalī* or Māndal, and at last came even into the capital. Mūlarāja's worship of Śiva is proved besides by his presentation of land. The following verse 4 seems to refer to the erection of the Tripurushaprāsāda in Aṇhilvāḍ. From among the military, undertakings of Mūlarāja, the victories over *Bārapa* and *Laksha*, king of Kachh, are mentioned. The former is made a general of the king of *Kanyakubja*. Of the next king *Chamuṇḍa*, vv. 8-9, Arisimha has nothing positive to say. On the other hand, a victory of *Vallabharāja* over the king of Mālvā is celebrated in verse 13, and in verse 14 the remark is made that Vallabha had the *biruda* of *Jagajjhampana*, which does not occur elsewhere. The *Kīrtikaumudī*, which also mentions the probably apocryphal victory, II.11, gives him the *biruda* of *Jagatkampana*. It says of *Durlabharāja*, vv. 15-16, that he was very modest, and was ashamed when his court poets compared him to Krishṇa. In the *Kīrtikaumudī* also Durlabha is praised for this virtue. Of his successor *Bhīma I*, we are told only that he conquered the celebrated king *Bhoja* of Dhārā. This statement agrees again with that of the *Kīrtikaumudī*, II.17-18, and also with those of the later *Prabandhas* whilst it does not occur in Hemachandra's *Dvyāśrya*. Bhīma's son *Karṇa*, vv. 20-23, is praised for his beauty, mentioned also by Hemachandra in the *Praśasti* to his Grammar, verse 17, in the *Ratnamālā* and in the *Kīrtikaumudī*, II.21. Then Arisimha states that Karṇa conquered the king of Mālvā and brought home from there a statue of *Nīlakaṇṭha or* Śiva. It says, verse 23:-"Who (Karṇa) conquered the king of Mālvā with his army and truly brought with him Nīlakaṇṭha; the fame of him for whom the number of paths through the river on the head of this god was multiplied, he extended in the three worlds. "

Most *Prabandhas* and even Hemachandra's *Dvyāśraya* mention no kings during *Karṇa's* reign. The latest discoveries, however, shew that this silence is by no means justified. Bilhaṇa's drama, *Karṇasundarī*, which was found by Paṇḍit

1. I first drew attention to this atrocious nonsense in the *Indian Antiquary*, Vol. VI. pp. 181-182.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Durgāprasād and published in the Bombay *Kāvyamālā*, speaks of a fortunate war with the Muhammadan princes of Sindh and Ghazanī. Since Bilhaṇa was in Aṇhilvād during Karṇa's reign, and probably made an unsuccessful attempt to become the court poet of that king, his statement deserves credit. Then Someśvara, Arisiṁha's contemporary, narrates, in the *Surathotsava*,[1] found by Dr. Bhandarkar, that his ancestor *Āma*, house-priest of king Karṇa, compelled an evil spirit (*kṛityā*) raised by the house-priest of the king of Dhārā, to kill its originator. The reason why the Paramāra prince's priest sought to destory the Chaulukya ruler was that the latter had invaded the dominion of Mālvā. Someśvara then without hesitation confirms Arisiṁha's assertion, and we may accept it as a fact that the feud between Mālvā and Gujarāt did not rest during Karṇa's reign.

Of *Jayasiṁha's* deeds it is related, vv. 23-38, that his cavalry bathed their horses in the Ganges (v. 32), that the 'air-walker *Barabaraka*' carried him about in the atmosphere (v. 33), that he took prisoner *Yaśovarman*, king of Dhārā (v. 34), that he had the tank called *Siddhasaras* dug (v. 35), and a high pillar of victory (*kīrtistambha*) built (v. 37). All these points are sufficiently known. It is only of interest that Barbaraka has here, as also in most of the other *Prabandhas*, become a purely mythical being. Verse 36 speaks of Jayasiṁha's worship of his mother, and alludes indeed to the narrative (*Prabandhachintāmaṇi*, p. 139), according to which the king, at the request of Mayaṇallādevī, remitted a tax imposed on pilgrims going to Somanāthapaṭṭaṇa by the officials at *Bāhuloḍa*.

Verses 39-43, referring to *Kumārpāla*, first praise the favouring of the Jaina religion by this king, who abolished the confiscation of the goods of tradesmen dying without male heirs, and caused *Vihārs* to be built in every city.[2] Then his victories over the *Jaṅgaleśa*, i. e., *Arṇorāja* of *Śākambharī* or Sambhar, and over the *Kauṅkaṇa emperor*, i. e. the Kādamba king *Mallikārjuna*, who ruled over the *Koṅkaṇ* (*Kīrtikaumudī*, II. 47 48), are celebrated. With respect to the latter, Arisiṁha gives a note which contradicts Someśvara's reports, but shews on the other hand that the representation of the later *Prabandhachintāmaṇi* is correct. It says, verse 43 : " What is wonderful in this strong one's (Kumārapāla's) conquering even the Jāṅgala princes, seeing the ruler of the marshland, the Kauṅkaṇa emperor, was defeated by his very tradesman (*baṇij*) ? "

Someśvara, in the *Kaumudī*, ascribes both victories to the king himself; in the *Praśasti* of Tejaḥpāla's temple at Ābū (vv. 35-36) on the other hand, the first is ascribed to the Paramāra *Yaśodhavala* and the second to his son *Dhārāvarsha*. Merutuṅga, on the other hand, records in the *Prabandhachintāmaṇi*, p. 201 ff., that the Śrīmālī-Vāṇiā Āmrabhaṭa, son of the counsellor Udayana,[3] advanced twice against the king of the Koṅkaṇ. At first he suffered defeat, but in the second campaign he is said to have slain Mallikārjuna.

Kumārapāla's successor is called in verse 44, Ajayadeva instead of *Ajayapāla*. This form of the name is also found elsewhere (see *Ueber das Leben des J. M. Hemachandra*, S.55, note 6). Like all *Prabandhas*, the *Sukṛitasaṁkīrtana* mentions

1. *Report on the Search*, etc., 1883-84, p. 20.
2. See Bühler, *Ueber das Leben des J. M. Hemachandra*, Ss. 39-40.
3. See *Ueber das Leben des J. M. Hemchandra*, S. 9 and note 28.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

with praise that the king sent him as a tribute from *Sapādalaksha* in Eastern Rājputana, a golden *maṇḍapikā*, i. e., a little ornament in the form of a *maṇḍapa* or pillared hall. Not less known is the victory which (v. 46) Ajayadeva's son *Mūlarāja* II. gained over the Turushkas, *i. e.*, over *Muhammad Shāhabuddīn Ghorī*. The Muhammadan authors (see Elliot, History, Vol. II. p. 294) confirm this information, which is found also in the *Prīthvirājavijaya* (*Kaśmīr Report*, pp. 62–63.).

Much more important is that part of the work (Sarga II, 48–57, Sarga III, 1–62) which follows next, relating to *Bhīmadeva II*, representing his relation to *Lavaṇaprasāda* and his son *Vīradhavala*, the Rāṇā of Ḍholkā, and stating how *Vastupāla* became minister to the latter. Arisiṁha gives an account here, which differs markedly from Someśvara's narrative in the *Kīrtikaumudī*. It will therefore be as well to give the most important verses of this part word for word:–

II. 48. Now his (Mūlarāja's) brother, the illustrious *Bhīmadeva*, whose invincible, terrible arm, like the post of a gate, destroyed all his ememies, wears amulet of the sphere for which the shores of the ocean furnish the pearls.

49. His whole life long he held fast to the reflection : ' This seat of the gods (Mount Meru) ought not to disappear through my liberality, which lasts but for a moment ',–and so he abstained from uprooting the golden mountain (Meru) in order to distribute gifts of gold.

II. 50. That beggars always experienced his liberality we hear from the songs of the pleasure–seekers (nymphs) who settled in the neighbourhood of his palace on the gold–mountains terraced for pleasure, in the belief that these were spurs of Mount Meru.

51. *Bhīma* the husband of the earth, whose entire riches had disappeared through continual and too liberal gifts, whose brilliant glory had departed, whose kingdom was bit by bit violently devoured by the barons,—ate his inmost heart out in long–accumulated cares.

III. 1. All at once, the prince, whose whole possessions had become small, saw in a dream at the end of the night a glorious and splendid god.

12. Thereupon the god poured upon the lord of the earth, who was as it were the root of the creeper of his love, the nectar–waves of his eloquence as follows :—

13. " I, thy grandfather,[1] king *Kumārapāla*, who have won the bliss of heaven through the laws of Arhat, am come because I love thee in thy misfortune.

14. " Son, I will give thee a proud governor of the kingdom, through which thou obtainest great glory, as fire does by wind.

15. " The great–armed Arṇorāja, son of the illustrious *Dhavala*, was an elephant in the forest of the *Chaulukya*–stem, an eagle for the serpents, his enemies.

18. "This man of adventurous spirit, who was the cause of my glory, was made by me, whose heart he won by his courage, lord of the city of *Bhīmapallī*.

1. If Kumārapāla calls himself Bhīma's grandfather, the expression, as is often the case with the indication of grades of relationship, is very likely only indefinitely used. For Kumārapāla was, according to all the *Prabandhas*, the great-uncle of Bhima, whose grandfather's name was Mahīpāla. (see Forbes's *Rās Mālā*, *p. 158*).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

19. "When evil councellors opposed thee, this strong one made thy accession the means of repaying my favour for ever.

20. "His son is *Lāvaṇyaprasāda,* whose arm, brandishing the sword — one would think it was his tongue — prepares to destroy his enemies in fight."

23. "If thou make this ornament of the sphere lord of all (*sarveśvara*) thou wilt become the husband of Fortuna and rest in happiness like Vishṇu in the Ocean.

24. "He has a son *Vīradhavala,* who for the sake of the battle wishes to perform again the oath of the descendant of Bhṛigu (Paraśurāma) to destroy the Kshatriya-race."

27. "Give this strong-armed one, whose shining toe-nails have become jewels on the heads of hostile kings, the rank of heir to the throne (*yauvarājya*), and thyself wilt rule yet a long time.

28. "Still more! save thou the Jaina-faith which helped me to attain unhindered to the fields of heaven, and which now almost sinks into the Kali-(period)."

29. When the king heard this, he embraced smiling the lotus-feet (of the god) as if he wished to hold in his hands the Fortuna that lives in the water-lilies.

30. Honouring him graciously, the god, lovingly attached to him, laid his hand which resembled the Lotus, the house of the Kamalā, on his head.

31. When in the morning the sound of the trumpet announced the sunrise to the ruler of the world, sleep, which closed his lotus-eyes, departed, like the night which closes the eye-like water-lilies.

32. When the prince saw with astonished gaze the light of the lamps, (he said): 'There is indeed visibly a god!' and then quickly he left his bed.

33. Then the husband of the earth, who had accomplished the duties of the morning, visited his hall, whose thick buttresses of jewels streamed forth rich splendour.

35. The ruler caught sight of the devoted barons among the company, shining like sparks of their courage.

36. The father and the son whom the god pointed out, the king anointed lords over all, with his eyes which were like nectar-jars.

III. 37. Thereupon the king directed joyfully this gracious speech before the nobles to *Lāvaṇyaprasāda* :-

38. "Through thy father, the terror of his enemies, I was set up (*as king*) in this kingdom; do thou therefore increase my diminishing prosperity.

39. "Accept from me, thou great in war, the rank of a lord over all; Vīradhavala, who shines in virtue, shall be my successor."

40. Thus requested by the king, himself worthy to be entreated in a matter in which they ought to have been the suppliants, the two spake joyfully: 'Your Majesty's command is law to us.'

41. Laying his hollow hands together as if he held in them the fluttering Butterfly (Fortuna), *Vīradhavala* turned again towards the husband of the earth (and said):-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

42. "Master, I am in need of an adviser; without one, the brave lion springs at the thunder-cloud, taking it for an elephant and suffers a great fall.

83. "Give me such a counsellor, distinguished by extraordinary virtues, acquainted with the use of weapons, with books, with the acquisition of wealth and with battle."

44. Greatly delighted by this speech, which was like a stream of nectar poured out to invigorate the liana — (creeper) of his happiness, the master of the world thought a little and then said :-

45. "Once upon a time was *Chaṇḍapa*, fiery in his splendour, a branch of the ever-fresh liana of fame of the distinguished *Prāgvāṭa* lineage, a servant (of the king) in this realm.

47. "His son, named *Chaṇḍaprasāda*, was furnished with skill and affability,...,

49. "To him was born a son named *Soma*, who flooded the firmament with his glory.

50. "Who had no master but king *Siddha* and no god but the lord of the Jinas.

51. "His descendant *Aśvarāja* made the universe splendid with his glory; he who accomplished seven pilgrimages to escape the seven hells.

53. "His beloved wife was *Kumāradevī*, who, though the first among the Jina-believing (women), worshipped the husband of Gaurī.

54. "To these two were born three sons, whose power made their enemies tremble ...

55. "First among them, *Malladeva* is famous a treasury of wisdom; he who obtained autocracy in his kingdom by the will of his preceptor.

56. "His younger brother is the wise *Vastupāla*, a dwelling-place of the fine arts, whose feet the later-born *Tejaḥpāla* daily worhsips.

57. "These two, like wands to whirl about the ocean of deeds, like paths leading to conjunction with Fortuna, I will give you for counsellors; but they protect their friends."

58. As *Vīradhavala* rejoiced at this speech, the husband of the earth called to these two sons of one mother, who bowed their heads, (and said) :-

59. "May you, who alone have crossed the ocean of state affairs, be clothed with the dignity of counsellors of the great *Vīradhavala*.

60. "His courage will attain to sight, if you serve him as eyes; unceasingly vigilant may he trample down all my enemies.

61. "Yet more — may you two, who hang on the feet of the Jina-prince, like bees on a lotus, glorify the faith in the lord of the Jinas; this great wish of king *Kumārapāla*, which he entrusted to me in a vision, must of necessity be fulfilled."

62. When the king had given these instructions, to which a good invisible god called out his approval — falsely taken for the echo from the vault of the audience chamber, — he gave over the two to the heroic *Vīradhavala*."

If we compare this narrative with that given concerning events by *Someśvara* in *the Kīrtikaumudī*, a considerable difference, especially in the rōle allotted to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Bhīma, *II.*, is unmistakable. According to Someśvara's representation, the Gūrjararājalakshmī, the Fortūna or protectress of the kings of Gujarāt, appeared in a dream to Lavaṇaprasāda, the Rāṇā of Ḍholkā, and called upon him, with the help of his son, to save the kingdom which had fallen into decay in the unskilled hands of Bhīma.[1] Someśvara further states that he himself was called before Lavaṇaprasāda on the following morning and asked concerning the meaning of the vision. He convinced his master, he assures us, that he was appointed by Providence to save his fatherland and induced him to obey the command of the goddess.[2] Thereupon Lavaṇaprasāda entrusted to his son the execution of the duty laid upon him.[3] A short time afterwards, Vastupāla and Tejaḥpāla were appointed his ministers."[4] If we reject the mythological additions in this record, which Someśvara, as a good court poet and arstist, held himself bound to put in, it merely says that *Bhīma* was a weak and unskilful ruler, and that *Lavaṇaprasāda* and *Vīradhavala* made use of his weakness in order to found a kingdom of their own. To this understanding we are led particularly by the circumstance, the Someśvara, in the description of the kings of Aṇhilvāḍ, expresses himself by no means respectfully concerning Bhīma II, when he says (*Kīrtikaumudī*, II.61):- " Powerful ministers and barons gradually divided the kingdom of this young and foolish (*bālasya*) ruler, " and elsewhere again (*ibid.* II.4) he gives the king the same not very complimentary epithet *bāla*. On the other hand, there is nowhere a question of Lavaṇaprasāda's service, and in the numerous inscriptions in the temples built by Vastupāla and Tejaḥpāla on Girnār and Ābū, and in other places, any mention of the suzerain of Gujarāt is entirely wanting. On the other hand, in the Girnār inscriptions, which were written V. S. 1288, ten years before Bhīma's death, *Vīradhavala* receives the title of Mahārājādhirāja, as if he were an independent ruler. Such a disregard of the forms which Indian etiquette prescribes for Vassal-princes and their servants, shews that *Bhīma* did not stand in great esteem at the court of Ḍholkā, and that he was not powerful enough to force from Lavaṇaprasāda and Vīradhavala the respect due to him. In spite of this it was probable, before the discovery of the Sukṛitasaṁkīrtana, that Someśvara's account did not quite correctly represent the true relation of his master to Bhīma II. For Merutuṅga says in the *Prabandhachintāmani*, p. 250 (Bombay edition), quite clearly, — । श्रीमद्भीमदेवराज्यचिन्ताकारी व्याघ्रपल्लीयसङ्केतप्रसिद्धः श्रीमदानाकनन्दनः श्रीलवणप्रसादश्चिरं राज्यं चकार ।[5] — 'the administrator of the illustrious Bhīmadeva, the illustrious Lavaṇaprasāda, son of the illustrious Ānāka (Arṇorāja) surnamed *Vāghrapallīya* (Vāghelā) ruled a long time.' This note led me in my first discussion of Someśvara's works (*Indian Antiquary*, Vol. VI. 187 ff.) to suppose that Lavaṇaprasāda was for a time in *Bhīma*'s service, and that he only later, — when Bhīma's folly, to this day proverbial in Gujarāt, his arrogance and extravagance, convinced him that there was no help for it, —

---

1 *Kīrtikaumudī*, II, 89–107.

2 *Kīrtikaumudī*, II, 83–86, 108–113.

3 *Kīrtikaumudī*, II. 114–115.

4 *Kīrtikaumudī*, III. 51 : compare also, II. 112, where Someśvara accentuates to his lord the necessity of appointing capable advisers.

5 The edition and Mss. of my collection write, evidently incorrectly ; *Vyāghrapallīsaṁ Lavaṇaprasādā* is the reading of I. O. L. B. S. MS. No. 296 instead of the *Lavaṇasāhaprasādaś* of the published edition.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

undertook to found a kingdom of his own. As the date of this defection, I thought proper to fix the Vikrama year 1276, in which, according to the Girnār inscriptions, *Vastupāla* was appointed minister. Arisiṁha's account, which, coming from a contemporary, possesses as much authority as Someśvara's, confirms only a part of these suppositions, whilst he makes it necessary to modify another part of the same. We learn from him that *Bhīma II*, through his inability to keep the vassals in order and through various difficulties, was forced to seek help and support, and that he himself chose his relative. The choice was prompted partly by Lavaṇaprasāda's personal qualities, the description of which agrees with that of other sources, partly through his father Arṇorāja's having (v. 18 above) already done important service to Kumārapāla and having been helpful to Bhīma himself in obtaining the throne (vv. 19 and 38 above). The title *Sarveśvara*, 'Lord over All,' which Lavaṇaprasāda, according to Arisiṁha's representation, received, has much the same meaning as Merutuṅga's expression *rājyachintākārin*, and hints that Lavaṇaprasāda's position was a very independent one. The further statement that Vīradhavala was at the same time named heir to the throne (*Yuvarāja*), takes for granted that Bhīma had no sons. Nor do the *Prabandhas* make any mention of such. It must, however, be remarked also that neither is Vīradhavala's appointment anywhere mentioned. In any case it remained without practical consequences, for Vīradhavala died several years before Bhīma. Also, in the statement that Bhīma gave the brothers Vastupāla and Tejaḥpāla to his Sarveśvara for counsellors, Arisiṁha stands alone. Someśvara says nothing particular at all as to how the two Jainas acquired their dignity. In the third Sarga of the Kīrtikaumudī he gives first a description of their genealogy which agrees with that given by Arisiṁha (vv. 45-46 above) and adds (vv. 51 and 52) that the two at once occurred to the prince who desired to win able men: he considered their great qualities and then sent for them. Further on, his address and Vastupāla's answer are given in full, without, however, affording any possibility of learning anything from them of the earlier circumstances of the latter. The later *Prabandhas*, Rājaśekhara's *Vastupālaprabandha* and Jinaharsha's *Vastupālacharita*, state that the brothers had come accidentally to Dholkā on their return from a pilgrimage to Śatruṁjaya, and were immediately engaged by Lavaṇaprasāda and Vīradhavala who had just seen the supernatural appearance mentioned by Someśvara. These Statements, like a great deal more, seem to be borrowed, directly from the *Kīrtikaumudī* and are hence of no value. Someśvara's representation is, however, certainly defective, for he leaves it uncertain how Vastupāla and Tejaḥpāla had so distinguished themselves that Lavaṇaprasāda could take them for suitable instruments for his plans. On the other hand, if one accepts, as Arisiṁha hints (vv. 57 and 59 above), that they had both been already in the royal service, this difficulty disappears. The probability of these statements is also supported by the circumstance mentioned by Someśvara (*Kīrt.* III. 14) and by Arisiṁha (v. 50 above), that their grandfather *Soma* had held a high position under Jayasiṁha. In the case of the brothers having been in royal service, however, Bhīma's consent was naturally necessary to their entering Lavaṇaprasāda's service. Thus we must declare Arisiṁha's account to be more worthy of credit. We can only doubt whether Vastupāla received his appointment at the same audience at which Lavaṇaprasāda was appointed *Sarveśvara*. The date of the former event is fixed, as already

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

mentioned, by the *Girnār inscriptions*, where it is repeatedly said that, from the (Vikrama) year (12)76, in Dholkā and other cities, he sealed "affairs with the seal."[1] The acceptance of Arisiṁha's statements makes it, of course, necessary to reject the suppositions expressed on a former occasion (*Indian Antiquary*, loc. cit.) that the appointment of Vastupāla and Tejaḥpāla marks the period when Lavaṇaprasāda deserted Bhīma and began to found a kingdom of his own.

The *new discoveries made since 1877* render it doubtful whether the *Sarveśvara* or his son ever was unfaithful to his master. It appears rather as if *Lavaṇaprasāda*, in his relation to the latter, although he practically ruled independently over the southern part of the Gūrjara kingdom, yet conducted himself at least outwardly as a vassal, and that Professor V. A. Kathvate is quite justified in comparing[2] his relation to Bhīma with that of the Marāṭha Peshvās to the court of Sātārā. Of special significance for this point is the *Lekhapañchāṣikā*[3] discovered by Dr. R. G. Bhandarkar, which, as he correctly acknowledges, was composed in the Vikrama year 1288, that is, twelve years after Vastupāla's appointment as minister and during Bhīma's reign. This little work gives formulæ for letters and documents of different kinds. Among the latter there is a gift of land, dated V.-S. 1288 in which the *Mahāmaṇḍaleśvarādhipati*, 'the great overlord of the tributary princes,' Rāṇā Lāvaṇyaprasāda, is named as giver. Befor his name stands the whole genealogy of the Chaulukya kings of Aṇhilvāḍ, and it is remarked that, by the grace of his master Bhīma II., he possessed the *Kheṭakāhārapathaka*, 'district of *Kaira*..'[4] Then the same work contains, as an example of a state treaty, an agreement of the same date between the *Mahāmaṇḍaleśvara* Rāṇā Lāvaṇyaprasāda and Siṁhaṇa (Siṅghaṇa), the *Mahārājādhirāja* of Devagiri, in which both contracting parties respectively promise to respect the other's boundaries, to keep peace and to help each other. Although the first of these two documents is evidently nothing more than a formula, and of the second nothing can be certainly proved as to whether it is a copy of a real treaty, yet their value remains considerable. Then, as the author of the *Lekhapañchāśikā* was a contemporary of Lavaṇaprasāda, we may take for granted that he describes the political relations in general correctly. We may believe him on the one hand that in the Vikrama year 1288 Lavaṇaprasāda was authorised to make treaties with foreign princes and consequently possessed a high degree of independence. On the other hand we must admit, that if Lavaṇaprasāda at that time made gifts of land, he employed the form ordinarily used by tributary princes and acknowledgod the overlordship of Bhīma. If this be correct, there can be no question of a defection on the part of Lavaṇaprasāda, at least until V.-S. 1288. The relation must rather have been as Arisiṁha gives it. Lavaṇaprasāda stood higher than all other rulers of districts, and governed the kingdom of his master in the strength of the trust committed to him. However free and high may

1 *Arch. Reports of Western India*, Vol. II p. 170. Vastupāla calls himself in this, and in corresponding passages in other inscriptions, *Sarveśvara;* his brother, on the other hand, *Mahāmātya.*

2 *Kirtikaumudī*, p. xxv.

3 *Report on Search for Sanskrit MSS.*, 1882-83, p. 28 ff, and p. 222 ff.

4 This should be written p. 223 for *khetakārāpathake*, and p. 224 for *kheṭakadhārāpathake*. As in other passages of the formulary, the expression is incorrect. For *āhāra* originally corresponded approximately to the modern zillā and *pathaka* to *tālukā*. Moreover, similar combinations of the two expressions are found in real presentations of land in later times.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

have been his position, he had not become a rebel. The confirmation, which Arisiṁha's statements receive through the *Lekhapañchāśikā*, make it advisable, in the representation of this period of the history of Gujarāt, to trust him more than the insinuations of Someśvara.

In concluding the discussion of this part of the *Sukṛitasaṁkīrtana, the mythological clothing* must still be mentioned. In the treatise by Zachariae and myself on the *Navasāhasāṅkacharita*, p.48, I shewed that the court-poets often deemed it suitable, at crises in the history of their heroes, to make the gods actively interfere. When Arisiṁha then makes the spirit of Kumārapāla descend from the fields of heaven to move Bhīma to the appointment of Lavaṇaprasāda as his *Sarveśvara*, it is not difficult to see what moved him to make use of this *deus ex machina*. Kumārapāla was well known as the adherent and protector of the Jaina faith. After his death a Brāhmaṇ reaction took place under Ajayapāla; and though Ajayapāla reigned only a short time, the Jaina sect seems not to have regained its former importance under his sons Mūlarāja and Bhīma II. Only when Vastupāla and Tejaḥpāla became ministers in Ḍholkā, did it again raise its head. Both belonged to one Jaina family and were filled with great enthusiasm for their religion. They spent a great part of their rich incomes on the erection of temples, asylums and benevolent institutions, so that at least the outward lustre of the Jainas was restored. Arisiṁha tried to unite the two prosperous periods of his sect by representing Kumārapāla as the intellectual originator of the second. In doing so, he has not refrained from putting words into king Bhīma's mouth which he certainly never spoke, when he makes him call upon Vastupāla and Tejaḥpāla (v. 61 above) 'to glorify the belief on the lord of the Jainas.' According to all we know of Bhīma, he favoured exclusively the Brāhmaṇs, and especially the Śaivas, to whom he made many presents. To excite vastupāla's enthusiasm for his faith was, however, absolutely unnecessary.

VASTUPĀLA'S PILGRIMAGE TO ŚATRUṀJAYA AND GIRNĀR.

In the fourth Sarga Arisiṁha turns to the description of the *Sukṛita* of pious works of *Vastupāla*, by which he adorned the Jaina religion. First he mentions shortly that Vīradhavala, with the help of his minister, soon 'conquered the ocean-girt earth' and put down all wrong and violence (vv. 1–7). Then he relates how in that happy time Tejaḥpāla came to his brother, praised his successes, and advised him to keep in mind the king's command and support the Jaina religion (vv. 8–13). Vastupāla agreed and declared he would at once visit his spiritual director to hear his preaching and begin his works of piety according to his advice (vv. 14–26). On this occasion the succession of the monks of *the Nāgendra gachchha* is gone over, which, since the time of *Chaṇḍapa*, had served the family as spiritual advisers. The names are precisely the same as those in the *Praśasti* of Tejaḥpāla's temple on Mount Ābū[1] :- (1) Mahendrasūri (vv. 15-16); (2) Śāntisūri (vv. 17-18); (3) (a) Ānandasūri and (b) Amarasūri (who received from king Jayasiṁha the title of honour *Vyāghraśiśukau*, 'the young tigers,' because even in early youth they were able to withstand proud disputants resembling fiery elephants (vv. 19–21); (4) Haribhadrasūri (vv. 22–23); and (5) *Vijayasena*

1 *Kīrtikaumudī* App. A., pp 9–10.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(Vastupāla's spiritual counsellor, vv. 24–26). Next we are told how Vastupāla went into the monastery with his brother and offered his homage to Vijayasena. The sermon following by the latter (which fills vv. 33–43) commends, as the most meritorious undertaking, a pilgrimage, and extols, as happy above all others the *saṁghādhipati*, the leader of pious pilgrims. The consequence is naturally that Vastupāla resolves to undertake a pilgrimage of the congregation to the holy places in Kāṭhiāvād.

The fifth Sarga then describes (vv. 1–6) the preparations for this journey. *Vastupāla*, it says, sent letters to the believers in every town to invite them. He visited personally the monks in the monasteries and invited them respectfully. For those who responded he cared in every way. Whoever had no carriage, he gave him one; whoever wanted provisions for the journey, got them; and for those who had no servants he provided them. Medicines and physicians also were not forgotten, so that those who sickened by the way might have assistance. When all preparations were complete, he had himself solemnly consecrated by his Guru as *Saṁghādhipati*, and set out 'surrounded by a wonderful army of carriages' (vv. 7–8). In verses 10–13 the names of some distinguished monks who took part in the pilgrimage are mentioned :— Narachandrasūri, Jinadattasūri of the Vāyaṭa gachcha, Śāntisūri of the Saṇḍeraka gachcha, and Vardhamānasūri 'the sun of the Gallakas.' In Kāsahrada, which is probably identical with the modern Kāsandra or Kāsandhra near Gāmph,[1] a halt was made, and (v. 16) a great festival was instituted in the temple of Ṛishabha. Of other stations by the way nothing is said. The Sarga closes with the arrival of the pilgrims at the foot of Mount *Śatruṁjaya*, where Vastupāla pitched a great tent-camp (v. 41) and distributed rich presents, especially of provisions, to all in want. He cared not for himself, it says, until he had assured himself by means of his heralds that no one wanted anything.

After, in the sixth Sarga, a conventional description of sunrise, which in a *Mahākāvya* must not be wanting, there follows in the seventh the description of *the ascent of the mountain* and the festivities engaged in there. The ascent took place on the morning after the arrival. The first shrine which the pilgrims reached was that of the Yaksha Kapardin (v. 12). Vastupāla offered his homage and celebrated him in a song of praise (vv. 13 16). Then he hastened to *the temple of Ādinātha*, whither the pilgrims followed him in crowds (v. 17). Still covered with the dust of the way, Vastupāla fell down outside before the lord of the Jainas (v. 26), and praised him in a hymn (vv. 27–33). Only then did he purify himself, the pilgrims following his example, and then he entered the Chaitya with them amid the performance of dances and songs (vv. 34–37). Thereupon he washed the image, as the rule prescribed, with saffron-water, rubbed it with musk, and wreathed it with flowers. The pilgrims burnt at the same time so much incense that the temple was wrapped in thick darknsss. And at last the *ārātrika* was performed, numerous lamps being swung to and fro before the statue (vv. 38–42).

2 Instead of *harada*, 'tank' *draha* occurs in the Prākṛit, so that Kāsadraha would correspond exactly to the Sanskṛit Kāsahrada. The further corruption conforms to the rules of Gujaratī phonetics Kasandra lies (see *Trig. Surv. Maps, Guj. Ser. Nr.* 82), in 72° 14'E. long and 22° 19'N. lat., pretty nearly on the direct route from Dholkā to Pālitānā. In the text Kāsahrada is called a *paṭṭana* 'a town.' The modern Kāsandra is a village of about 400 inhabitants.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The following verse 43 tells us that the stay on the mountain and the worship lasted eight days.[1] Then the prince of counsellors, after bestowing rich gifts upon the monks, descended from Mount Śatruṁjaya, performed the auspicious ceremonies for the journey and longed to bring his homage to the divine Neminātha on Girnār.

According to Sarga VIII. 1, the procession did not go directly to Junāgaḍh, but first to *Devapaṭṭaṇa* or *Somanātha* on the south coast of Soraṭh. 'There he, who possessed terrible power, worshipped the conqueror of Kāma, the (god) characterised by the moon, he who is beautiful to look upon,' i.e., Śiva-Somanātha. Soon, however, the ocean, 'pure through its shell-mark and blue as the *indranīla*-stone,' reminded Vastupāla, by these its qualities, of Neminātha (v. 10) and drove him to go further. Mount *Raivataka* (Girnār) came in sight, and it seemed to the minister as if the creepers of its woods, swayed by the wind, performed a joyful dance in honour of the arrival of the holy congregation (v. 11). This sight inspired Vastupāla to a song of praise (vv. 12–16). After his arrival he had a camp pitched at the foot of the mountain and celebrated the arrival by a festival. On the next morning the pilgrims ascended Girnār (v. 28). The description which now follows of the worship of Neminātha (vv. 29–42) is only a repetition of the scenes in the temple of Ādinātha. In conclusion, it says that the halt on Girnār lasted, like that on Śatruṁjaya, eight days. It is worthy of note that Vastupāla, on leaving, is said to have offered his homage to the Brāhmaṇ gods Ambā, Sāmba, Pradyumna, and the rest, who had temples on the mountain.

The ninth Sarga is, like the sixth, a purely poetical addition without any historical element whatever. It gives a description of the six seasons, which the prince of the wise, whose wishes were fulfilled, saw on the slopes of the mountain.

The tenth Sarga is occupied with the return of the congregation from Girnār to Ḍholkā. Immediately after the descent Vastupāla gave the pilgrims a magnificent banquet and distributed rich gifts among them (vv. 1–5). Then he set out for *Vāmanasthalī*, the modern Vanthlī, on the way from Junāgaḍh to Devapaṭṭna, and made a solemn entry into the town. Formerly it was forbidden to Jaina pilgrims to enter the city. Vastupāla, however, had "the godless writing" destroyed (v. 6). Concerning the further course of the journey, all that is related is that in every village incense was offered to the Tīrthaṁkaras (v. 7). When the procession reached the neighbourhood of Ḍholkā, not only Vastupāla's relations, but also Vīradhavala, with the citizens, came out to meet him. In the midst, between the Rāṇā and his brother Tejaḥpāla, "like a Śiva represented in the manner of the Tripurushas" (v. 11), he entered the town amid the praises of the bards (vv. 14–29) and the passionate expressions of joy of the women (vv. 31–42).

Vastupāla's pilgrimage is mentioned in *the inscriptions* in his temple on Girnār as well as in Someśvara's *Kīrtikaumudī*. The inscriptions[2] state quite briefly that

1 This note, found also in Jinaharsha's *Vastupālacharita*, has a particular interest, because Jaina pilgrims never pass the night on the mountain now.

2 J. Burgess, *Archaeolog. Survey of Western India*, No. 2.–Memorandum of the Antiquities at Dabhoi, etc., p. 22, l. 4 ff., p. 23, l. 11 ff; etc., and *Arch. Report, Western India*, Vol. II p. 170.
सं० ७७ वर्षे श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्तप्रभृतिमहातीर्थयात्रोत्सवप्रभावाविर्भूतश्रीमद्देवाधिदेवप्रसादासादितसंघाधिपत्येन...श्रीवस्तुपालेन ।
The same date V. S. 1277 is rightly given by Merutunga in the *prabandhachintāmaṇi* p. 254.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

" Vastupāla, in the year 77 (V. S. 1277), attained the dignity of a Saṁghādhipati or head of the congregation by the grace of the illustrious over-god of the gods, who, in consequence of the mighty working of the festive pilgrimage undertaken to Śatruṁjaya, Ujjayanta (Girnār) and other shrines, revealed himself." Someśvara, on the other hand, dedicates the whole of the last Sarga of his poem to the pilgrimage, and his description of it agrees on the whole with that given by Arisiṁha. Yet there are the following differences. The halt in Kāsahrada is not mentioned. It is said on the other hand (*Kīrt.* IX. 19,20), that the route followed by the minister could be traced by means of the restored old temples of the Jinas and the freshly dug tanks, as also that the pilgrims offered homage in all the temples to which the procession came. On *Śatruṁjaya*, Vastupāla stopped according to Someśvara (*Kīrt.* IX. 36) only 'two or three days.' In spite of this, it is said immediately before (IX. 30-36) that he presented a flag of yellow-white stuff to the temple of *Ādinātha*, that he built two temples to *Neminātha* and *Pārśvanātha*, and had a large tank dug. It is not doubtful that the last two notes refer to a later time. Further on, in the course of his report, Someśvara (IX. 66-69), places the visit to *Girnār* before that to *Devapaṭṭaṇa* or *Prabhāsa* (IX. 70-71). He states also that Vastupāla was 'many days' on Girnār, and that in Devapaṭṭaṇa he worshipped, besides Śiva-Somanātha,[1] the Jaina Tīrthaṁkara Chandraprabhu. Probably this contradiction is explained, in that two visits to Devapaṭṭaṇa took place. Arisiṁha hints at this when he says the pilgrims went to Vāmanasthalī on their return-journey. Vāmanasthalī or Vanthlī lies about nine miles south-west of Girnār and on the direct road to Devapaṭṭaṇa. Whoever travels by Vanthlī on the return from the Girnār cannot readily take any other way afterwards towards the mainland of Gujarāt than that which leads from Devapaṭṭaṇa first along the south and then along the east coast of the peninsula. This seems to have been in early times the ordinary route for caravans and pilgrimages.[2]

VASTUPĀLA'S BUILDINGS AND PIOUS INSTITUTIONS

The eleventh and last Sarga begins with the statement, that *Vastupāla*, after he was made lord of the town of *Stambhatīrtha* by Vīradhavala, began to build temples (*Kīrtanāni*) which resembled embodiments of his fame on earth, and in verses 2-34 forty-three buildings, restorations and institutions of different kinds are enumerated. This list is much more modest than those which occur in the later *Prabandhas* of Rājaśekhara and Jinaharsha. It contrasts also advantageously with the absurd boastfulness of the Girnār inscriptions, in which it is said[3] that Vastupāla and Tejaḥpāla caused new places of religion (*Dharmasthānāni*), i.e., temples, asylums, abodes for the performance of perpetual vows, tanks and so on, to the number of ten millions (*koṭiśaḥ*), and also caused very many restorations to be made. Arisiṁha gives the following details ;—

I. — In *Aṇahilapurī* or *Aṇhilvāḍ-Pāṭaṇ* :—

1. The restoration of the temple of Pañcāsara-Pārśvanātha which Vanarāja

1. The worship of Śiva, unfitting for a Jaina, is also admitted by Jinaharsha-*V. Char.* VI. 535

2. In the *Vastupālacharita*, VI. 515 ff., the way is more minutely described and the stations between Śatruṁjaya and Girnār are: (1) Tāladhvaja or Talājā, (2) Koṭināri of Koḍinār, (3) Devapattana, and (4) Vāmanasthalī.

3. *Arch. Rep. Western India*, Vol. II p. 170, 1.5, transcription.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(p. 65 above) had caused to be built (Ś. XI. 2). With this agrees Jinaharsha in the *Vastupālacharita* VII. 66, where it is added that the building took place when Vastupāla visited Pāṭaṇ after a battle against the Muhammadans at Ābū, which he won by the help of Dhārāvarsha of Chandrāvatī. Muhammadan authors mention nothing of attacks upon Gujarāt in the first half of the 13th century. At the same time it is possible that during or after Shamsuddīn Altamsh's expedition against Ranthambor, A. D. 1226,[1] parts of the victorious army may have come as far as Ābū and attempted an invasion of Gujarāt. If Jinaharsha's note be correct, we may perhaps accept that the restoration of the temple in Aṇhilvāḍ took place in the year A. D. 1926 or 1227.

II. — In *Stambatīrtha* or *Cambay* :-

2. The erection of a golden, *i.e.*, a gilded, flag-staff and knob on the temple of Bhīmeśa (Ś. XI. 3). The *Vastupālacharita* (IV. 720) gives the same note, and has, instead of the vague *ketu* (literally "banner"), the plainer expression *dhvajadaṇḍa*.

3. The erection of an Uttānapaṭṭa before Bhaṭṭāditya and of a golden wreath on his head (Ś. XI. 4). The Vastupālacharita, IV. 719, speaks of an Uttānapāda (?) in the temple of Bhaṭṭāditya. The technical meaning of Uttāṇapaṭṭa is unknown to me.

4. The excavation of a well in the temple-grove (*pūjanavana*) called Vahaka of Bhaṭṭārka (Ś. XI. 5)

5. The erection of a *maṇḍapa* or vestibule overlaid with stucco (*sudhāmadhura*) before the temple of the sun-god called Bakula (Ś. XI. 6). The *Vastupālacharita* (IV. 721) speaks of a *raṅgamaṇḍapa* or painted vestibule before the temple of Bakulasvāmideva.

6. The restoration of the *maṇḍapa* and of the temple of Śiva-Vaidyanātha (Ś. XI. 7). The *Vastupālacharita* (VI. 718) says more plainly[2] :-"The temple of the god Vaidyanātha, together with the *maṇḍapa*, he made new again to the everlasting safety of his king."

7. The erection of high-walled enclosures for the sale of sour milk (*takra*, Ś. XI. 8). Both Someśvara (*Kīrt.* IV. 17) and Jinaharsha (*V. Char.* IV. 716) mention this. The *uchchaiḥpada* or *vedībandha* must, as Prof. A. V. Kathvate in the notes to the *Kīrtikaumudī* says, have been erected for the purpose of protecting the wares from contamination by people of low caste.

8-9. The erection of two asylums (*upāśrayas*) for Jaina monks (Ś. XI. 9). Someśvara (*Kīrt.* IV. 36) speaks of many *paushadhaśālās*, which Vastupāla caused to be erected in Cambay.

10. The erection of a drinking-hall with round windows (*gavāksha*) on two sides (Ś. XI. 10). Someśvara (*Kīrt.* IV. 33) again speaks of many such.

III.—In *Dhavalakka* or *Dholkā* :-

11. The building of a temple of Ādinātha (Ś. XI. 11). According to *V. Char.* III. 457, this temple was called Śatruṁjayāvatara.

1 Elliot, *History of India*, Vol. II. P. 324

2 वैद्यनाथस्य देवस्य मन्दिरं मण्डपोत्तरम् । श्रेयसे निजभूभर्तुस्तेने येन पुनर्नवम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

12–13. The erection of two asylums (*upāśrayas*) for Jaina monks (Ś. XI. 12).

14. The restoration of the temple named Rāṇaka of Bhattāraka (Śiva) (Ś. XI. 13).

15. The construction of a *vāpī* or a square covered water-reservoir (Ś. XI. 13).

16. The erection of a pump-room (*prapā*) (Ś. XI. 14).

IV. — At *Śatruṁjaya* near *Pālitāṇā* :-

17. The erection of an *indramaṇḍapa* before the temple of Ādinātha (Ś. XI. 15): compare *V. Char.* VI. 630.

18–19. The erection of a temple of the Jina of Ujjayanta, *i.e.*, of Neminātha, and of a temple of the Jina of Stambhana, *i.e.*, of Pārśvanātha (Ś. XI. 16). Someśvara (*Kīrtikaumudī* IX. 31–33) and Jinaharsha (*V. Char.* VI. 631–632) also mention both temples, and the former calls the two Jinas by the usual names.

20. The erection of a statue of the goddess Sarasvatī (Ś. XI. 17). Neither Someśvara nor Jinaharsha mention this. It is, however, probable, for Vastupāla says, in the Girnār inscriptions,[1] that he erected in Girnār a *praśastisahita-Kaśmīrāvatara-Sarasvatīmūrti.*

21. The erection of statues of his ancestors (Ś. XI. 18); compare also *Kīrtikaumudī,* IX. 34, and *V. Char.* VI. 633. According to the latter passage, these statues, as well as those named further on, were set up in the temple of Pārśvanātha. This statement agrees with the actual state of things found in Tejaḥpāla's temple on *Ābū,* where the statues stand in an annex (*balānaka, Kīrtikaumudī,* App. A., v. 61) to the right of the adytum.

22. The setting up of three statues on elephants; his own, that of Tejaḥpāla, and that of Vīradhavala (Ś. XI. 19). With this, Jinaharsha (*V. Char.* 633–634) agrees entirely; Someśvara (*Kīrtikaumudī,* IX. 35) says the three personages were on horseback, which is certainly a mistake.

23–26. The erection of sculptures representing the four mountain summits consecrated to Avalokanā, to Ambā, to Śāmba and to Pradyumna (Ś. XI. 20). Jinaharsha says (*V. Char.* VI. 631) that these sculptures were found in the above-mentioned temple of Neminātha.[2] The four peaks might be those of Mount Girnār, now named after Ambā, Gorakhnāth, Dattātreya, and Kālikā Mātā: compare also the Girnār inscriptions, *Arch. Sur. Rep. W. Ind. Loc. cit.* 1. 6, and above p. 76.

27. The preparation of a *toraṇa* before the temple of the Jinapati, *i.e.*, probably of Adinātha (Ś. XI. 21). Jinaharsha (*V. Char.* VI. 629)[3] speaks of a *toraṇa* over the western door of the *indramaṇḍapa,* which last stood before the temple of Adinātha.

28–29. The erection of temples of Suvrata of Bhṛigupura or Broach and of Vira of Satyapura or Sāchor (Ś. XI. 22),[4] Jinaharsha (*V. Char.* VI. 656–658) says the two temples stood right and left of the temple of Ādinātha, and that

---

1 *Arch. Report W. Ind., Loc. cit.* 1.6.

2 तत्राम्बिकावलोकना-शाम्ब-प्रद्युम्नशानुभिः । सह रैवतकतीर्थेन्दोरसौ चैत्यमसूत्रयत् ॥

3 प्रत्यग्द्वारगतं चन्द्रकलासितशिलाशतैः । तत्रेन्द्रमण्डपे मन्त्री तोरणानि व्यरीरचत् ॥

4 Sāchor now belongs to Jodhpur in Rājputānā, and lies to the North-East of Tharād, It is still a holy place of the Jainas and famous for its temple; it is in 25° 11'N. lat., 71° 55'E. long,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the first was built for the welfare of Vastupāla's first wife Lalitādevī, and the other for the welfare of the second, Saukhyalatā or Sokhukā.

30. The erection of a *pristhapatta, i. e.*, of a tablet, behind the statue of Jina (Ādinātha?) of gold and precious stones, which seemed to give the statue a halo (*bhāmandala*) (Ś. XI. 23).

31. The raising of a golden *torana* (Ś. XI. 24).[1]

V. — In the neighbourhood of *Padaliptapura* or *Pālitānā* :-

32. The excavation of a large tank (*saraḥ*, Ś. XI. 26), mentioned also by Someśvara (*Kīrtikaumudī*, IX. 36) and by Jinaharsha (*V. Char.* VI. 677). In the latter passage it is added, that the tank lay near Vāgbhaṭapura, the place built by Kumārapāla's minister Vāgbhaṭa, and bore the name of Lalitāsaraḥ in honour of Vastupāla's first wife.

33. The erection of an asylum (*upāśraya*) for Jaina monks (Ś. XI. 27).

34. Of a pump-room (*prapā*, Ś. XI. 28).

VI. — In the village of *Arkapālita* or *Ankavāliya* :-

35. The digging of a tank (*taḍāga*, Ś. XI. 29). Jinaharsha (*V. Char.* VI. 690) adds, that Vastupāla had this tank dug for his own welfare. According to the same author, he erected in the same place a pump-room for the benefit of his mother, a *sattra* or alms-house for the benefit of both his parents, and further, a temple of Śiva (*purabhido devasya*), and a rest-house for travellers. There are several villages in Kāṭhiāvād with the name of Aṅkavāliya. Probably the one meant here is that which lies eastward from Bhīmnāth, 71°59'E. long. and 22°15'N. lat. (Trigonometrical Survey Map, Kāṭh. Ser. No. 14) on the river Līlkā. There is a large tank, and the village lies on the old road from Ḍholkā to Śatruṁjaya.

VII. — On Mount *Ujjayanta* or *Girnār* :-

36-37. The erection of two temples of Pārśvanātha of Stambhana and of Ādinātha of Śatruṁjaya (Ś. XI. 30). These two temples are mentioned in the Girnār inscriptions (*Arch. Rep. W. I.* Vol. II. p. 170,1.6) first among the buildings erected there. Jinaharsha (*V. Char.* VI. 695) speaks only of the temple of Ādinātha.

VIII. — In *Stambhana*[2] :-

38. The restoration of the temple of Pārśvanātha which was adorned with statues of Ādinātha and Neminātha (Ś. XI. 31), Jinaharsha says (*V. Char.* VI. 518), that Vastupāla deposited 1,000 *dīnāras* in the treasury of Pārśvanātha for the purpose of the restoration, not that he himself had it done.

39-40. The erection of two pump-rooms (*prapā*) near the temple of Pārśvanātha (Ś. XI, 32).

---

1 In verse 25 the author says that he would be able to describe all the buildings erected on the Śatruṁjaya, 'if the creator had given him a place in the firmament like the teacher of the gods (the planet Jupiter).'

2 This place lay, as is often mentioned in the *Prabandhas*, on the river Śeḍhī or Sheḍhī, and thus in the eastern part of the present collectorate of Kheḍā. Peterson's identification of it with Stambhatīrtha or Cambay (*Third Report*, p. 26) is untenable, for the Sheḍhī is more than 30 miles distant from Cambay, and Stambhana is named along with Stambhatīrtha in the Girnār inscriptions. [Stambhana is an old name for Thāmna on the Śeḍhī, 10 miles south-west from Ṭhāsrā in Ānand tāluka, lat. 22° 43'N., long. 73° 9'E.-J. B.]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

X.—In *Darbhāvatī* or *Dabhoī*:

41-42. The placing of gold capitals on the temple of (Śiva) Vaidyanātha, because the old ones were carried off by the king of Mālava; and the erection of a statue of the sun-god (Ś. XI. 33). Jinaharsha mentions these (*V. Char.* III. 371), but ascribes them to Tejaḥpāla.

X. — On Mount *Arbuda* or *Ābū*:-

43. The building of a temple of Malladeva (by whom may be meant Mallideva or Mallinātha) for the benefit of his brother Malladeva (Ś. XI. 34). In the *V. Char.* VIII-76, it is stated that the temple for the benefit of Māladeva was built on Śatruṁjaya. Since only one temple of Neminātha built by Tejaḥpāla, is found on Ābū, and its position makes it improbable that a second ever existed, the mistake may be on Arisiṁha's side.

In this list of Vastupāla's buildings *the restorations of Brāhmaṇ temples,* as well as of the decoration of such buildings, have a special interest. They prove, as does also his worship of Śiva-Somanātha in Devapattana (p. 77 above), that he was no exclusive Jaina, but was rather lax in his religous views, and thereby confirm some hints in the later *Prabandhas* on this point (see *Kīrtikaumudī* p. xxii.). The reasons for his lax view may have lain partly, as Professor A. V. Kathvate says, in the passage quoted, in his familiar intercourse with the high priest Someśvara and other Brāhmaṇ savants, but may partly be due to his position at the Brāhmaṇ court of Dholkā. The latter is hinted at by Jinaharsha also. He adds apologetically, on mentioning the worship of Śiva-Somanātha in Devapattana, that Vastupāla performed this act to please his king.[1] He also says further on, that the minister, 'at the command of his master,' prepared a *muṇḍamālā*, or 'skull-chain' or 'tiara,' adorned with rubies, for Śiva. These well-authenticated pieces of information have their significance in the judgment of cases where something similar is stated of court Jainas, as, for instance, of Hemachandra,[2] in works less worthy of credit.

The second interesting point in the catalogue is the mention of *only two temples on Girnār.* This shews plainly that the great threefold temple, which now forms the principal ornament of the mountain, was not yet finished, perhaps not yet begun. The date of the six inscriptions, identical in their first parts, in the Vastupālavihāra, is Vikrama-Saṁvat 1288, Phālguṇa śudi 10, which according to Jacobi's calculation, *Indian Antiquary,* Vol. XVII. p. 151 f., corresponds with the 3rd March A. D. 1232. The *Sukṛitasaṁkīrtana* must therefore have been written before that time, and we must not put its authorship earlier than Vikrama-Saṁvat 1285. From a comparison of the list of Vastupāla's buildings in the Kīrtikaumudī it is further clear that the latter work was written in a little earlier than the *Sukṛitsaṁkīrtana.* For in the *Kīrtikaumudī* the buildings on Śatruṁjaya are mentioned, but not two temples on Girnār.

---

1 *V. Char.* VI. 535-536:—

श्रीवीरधवलाधीशस्वान्तसन्तोषहेतवे । सोमेश्वरं तदानर्च मन्त्री नानाविधार्चनैः ॥ ५३५
नरेन्द्रादेशतो मन्त्री सोमनाथमहेशितुः । माणिक्यखचितां मुण्डमालामयमकारयत् ॥ ५३६

2 See *Ueber das Leben des Jaina-Mönches, Hemachandra,* S. 27 f.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

NOTES ON VASTUPĀLA'S WARLIKE DEEDS

While Arisiṁha, true to his plan, sings only of the *sukṛitas* — the pious deeds of Vastupāla, Amarapaṇḍita endeavours to acquaint posterity also with the heroic deeds of his patron. He evidently knows of only one, the victory of Vastupāla over *Saṁgrāmasiṁha*, the son of *Sindhurāja*, who seems to have been a petty vassal-prince or village chief in Vaṭakūpa near Cambay, and over his ally *Śaṅkha*. He says, I. 44 : "They call him a Jaina; but the illustrious minister Vastupāla is devoted also to Śiva. He washed the master who wears the form of air (*i.e.*, goes naked) with the water of shining fame which he took from *Śaṅkha*." Further, VIII. 46 : "Thy sword, illustrious Vastupāla, beautiful in rising and brandishing, valiant in deed, defeated in the world that *Saṁgrāmasiṁha*." And X. 45 : "Thy glory, O Vastupāla, which shines by the victory over *Sindhurāja*, is like the moon in the sky, since the spot in it is certainly the face of Sindhurāja, which was blackened by his deep shame."

Vastupāla's feud with *Saṁgrāmasiṁha* and *Śaṅkha* is related at length by Someśvara in the *Kīrtikaumudī*, IV–V, and Someśvara also is unable to report any other warlike deed of his friend. Since, then, we possess two eulogies, which, although otherwise independent of each other, mention only this one exploit, we may conclude that the accounts in the later *Prabandhas* of the numerous heroic deeds of Vastupāla and Tejaḥpāla, in the beginning of their career, deserve on great confidence.

In conclusion, it may be mentioned that Amarapaṇḍita twice addresses *Vastupāla* by the name of *Vasantapāla*. This was his poet-name, under which he wrote the *Naranārāyaṇānanda-kāvya*, which I found in Aṇhilvāḍ in 1875.[1]

---

1 A copy of the work is in the Deccan College Collection of 1875–77 No. 731.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

INTRODUCTION

of the Sukritasamkirtana text by late Muniraja Shri Chaaravijayaji Maharaja

साक्षाज्जिनाधिपतिधर्मनृपाङ्गरक्षो जागर्ति नर्त्तितमना मुदि वस्तुपालः ।

The Sukṛtasankīrtana is a historical Mahākāvya describing the good deeds of Vastupāla. It consists of eleven cantos. and at the end of each conto are appended five verses composed by a Amara Paṇdita. Three out of these are eulogistic, the fourth mentions Arisimha as the author of this work and praises his poetical skill, while the fifth rocords the fact that these four verses are composed by Amara.

The popularity Of the work. The Sukṛtasankīrtana does not seem to have been popular even among the Jains. Verses from Someśvara's Kīrtikaumudī are often found in the Prabandhakośa and Jinaharsha's Vastupālcharitra, but none from the Sukṛtasankīrtana. Bālachandra has also composed his Vaśantāvilas on the style of the Kīrtikaumudī.

Literature about Vastupāla — The main works about Vastupāla's history are as under:—

Contemporary

I	Sukṛtasankīrtana.	
II	Kīrtikaumudī.	
III	Dharmābhyudaya.	} Udayaprabha
IV	Sukṛtakīrtikallolinī.	
V	Hammīramadamardana.	} Jayasimha Sūri.
VI	Vastupāla-Tejahpāla Praśasti	
VII	Vasantavitāsa by Bālchandra.	

Later

VIII Vastupālaprabandha in the Prabandhachintāmaṇi.
IX Vastupālaprabandha in the Chaturvimśatiprabandha.
X Vastupālacharitra of Jinaharsha.

The author and his religion — The author of the Sukṛtasankīrtana is Arisimha, son of Lavaṇasimha. He was a protege of Vastupāla and we understand from the Upadeśatarangiṇī that like Someśvarsa, the author of the Kīrtikaumudī, he too got a *giras* and other gifts for this work[1]. It is not clear to what caste he beloṇged, whether he was a Bania or a bard. He has got the appellation Ṭhakura and this appellation was common among the Banias too. As to his religion, it is not quite certain whether he was a Jaina or a Shaiva. The fact of his bringing the spirit of Kumārapāla and making him to order Bhīma to revive the glory of Jainism speaks in favour of his being a Jaina, while his omission of salutation of Jina in the beginning of his poem and his telling us that Vastupāla's mother Kumāradevī, though a leader among those following Jainism, had faith in Śiva too, which is not mentioned by any other writer, mey lead one to believe that he was a Śaiva,

(1) स्वसङ्कीर्तनगुणकुलपूर्वजावदातप्रतिपादककीर्तिकौमुदीसुकृतसङ्कीर्तनकाव्यकृत्सोमेश्वरारिसिंहयोर्ग्रामग्रासाश्वदुकूलादि-दानं यावज्जीवार्हं दत्तम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of course, not staunch. Jahlaṇa's Sūktimuktāvalī quotes four verses of Arasi Ṭhakkura,[3] who is most probably the same as our author.

Amarachandra and his relation with Arisinha — Amarachandra is an illustrious figure in Sanskṛta literature. The fame of his works was not only restricted among the Jainas, but also extended to the Brahmins among whom his works Bālabhārata and Kavikalpalatā were popular. His other available works are Chhandoratnāvalī, Syādiśabdasamuchchaya and Padmānanda Kāvya. The last work was composed at the request of Kosṭhāgārika Padma, a Vāyaḍa Bania of Pattan.[3] It is otherwise known as Jinendracharitra, as it gives the lives of Tirthankaras. The Prabandhakośa mentions two other works of his, Sūktāvalī and Kalākalāpa. He compared in one place in his Bālabhārata the braid (वेणी) to a sword and for this he was known as Veṇīkṛpāṇa Amara. Amara was the pupil of Jinadatta Śūri of Vāyaḍagachchha. the author of the Vivekavilāsa. Jinadatta Sūri's name is mentioned in this poem among the Ācharyas who accompanied in Vastupāl's pilgrimāge Śatruñjaya. The Prabandhakośa tells us that Amarachandra got the charm of Siddhasārasvata from Kavirāja Arisimha, pupil of Jinadatta Sūri and by his chanting this for twenty one days the Goddess of Learning appeared before him from the disc of the moon at the midnight of the twenty-first day and gave him the boon that he would be a Siddha Kavi, honoured by all kings. The same Prabandha describes his entry into the court of Vīsaladeva and through him of his teacher in fine arts, Arisimha. But the Prabandhachintāmaṇi tells us that Amarachandra had entered the court of Dholka in the time of Vastupāla and was recognised as a poet of power and note. Amarachandra does not mention in any of his published works that he was a pupil of Arisīmha in fine arts but it is only clear from the works that he held Arisimha and his poetry in high esteem. The story about Amara's getting Siddhasārasvata charm from Arisimha and also his introduction of Arisimha into the court of Vīsaladeva should be accepted with much reserve. One thing is, however, clear from this that both Amara and Arisimha occupied a remarkable position in the literary court of Visaladeva. Just as Amarachandra had composed four verses in the Sukṛtasankīrtana, so the Sūtras of Kavikalpalatā of Amarachandra were composed partly by Arisimha and partly by

---

(2) अतिविपुलं कुचयुगलं रहसि करैरामृशन्मुहुर्लक्ष्म्याः ।
तदपहृतं निजहृदयं जयति हरिर्मृगयमाण इव ॥
मध्येन तस्या विजितः कृशाङ्ग्याः पञ्चाननः काननबद्धवासः ।
तस्याः स्तनस्तम्भतटीधियैव कुम्भौ गजानां कुपितो भिनत्ति ॥
दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वाणिदंभादमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता ।
भवपरिभवखेदत्यक्तबाणः कृपाणश्रममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्व्यनक्ति ॥
कान्ताऽस्मद्दैवगत्या कथमपि गमितान्यन्तरालोत्थभक्ष्या-
ण्युड्डीयोड्डीय भूयस्तरुशिखरशिखामेव तेभ्यः श्रयन्ते ।
इत्थं त्वद्वैरिनारी गिरिषु नरपते ! जंबुलुम्बीकदम्ब-
भ्रान्त्या भर्तुर्बुभुक्षोः कथयति पुरतश्चेष्टितं षट्पदानाम् ॥
Jahlaṇa's Sūktimuktāvalī.

(3) पद्मेनाभ्यर्थितः स श्रीजिनेन्द्रचरिताह्वयम् ।
वाक्सहायो महाकाव्यं निर्ममे निर्ममेश्वरः ॥ पद्मानन्द १–४३

Amara[1]. Amarachandra mentions in his Kavikalpalatā one more work of Arisimha, Kavītārahasya. Amarchandra calls Arisimha in the Sukṛtasankīrtana as an able disputant.

Analysis of the work — The *first* canto gives the genealogy of the Chāpotkaṭa kings. Of Vanarāja it is said that he founded the city of Anahilla Pattana and that he erected there the temple of Pānchāsara Pārśvanātha.

After him Yogarāja, Ratnāditya, Vairisimha, Kshemarāja, Chāmuṇda, Rāhaḍa & Bhūbhata successively ruled over Gujarat. This list of Chāvdā kings is identical with that given in the Sukṛtakīrtikallolinī of Udayaprabha. In view of the concurrence of these two authorities, the statement in Krishnāji's Ratnamālā, which is not so old as is believed, is unreliable.

The *second* canto describes the reigns of the Chaulukya kings. Mūlrāja's pilgrimage to Someśvara every Monday is also mentioned in Bālachandra's Vasantavilāsa. The fourth verse refers to his erection of Tripurusha Prāsāda in Anahillavāda. Mūlaraja defeated Bārapa, the general of the king of Kānyakubja, and Laksha, king of Cutch. Vallabharāja's victory over the king of Mālvā is celebrated in verse 13th. He had the *biruda* of Jagajzampana. This *biruḍa* is found in the Kumārapālapratibodha, Kīrtikaumudi, Sukṛtakīrtikallolinī and Vasanta-vilāsa. Durlabharāja was very modest and was ashamed when his court poets compared him to Krishna. Bhīma defeated Bhoja of Dhārā. Karṇa conquered the king of Mālvā and brought home from there an image of Nīlakaṇtha Śiva, Jayasimha conquered Barbaraka and took prisoner Yaśovarma, king of Dhārā. He had the tank called Siddhasaras dug and a high pillar of victory built. Jayasimha was very devotional towards his mother. Kumārapāla abolished the confiscation of the property of tradesmen dying without male heirs and caused Jaina temples to be built in every city. He conquered the king of Jāngla, Arṇorāja of Śākambharī, and his general Āmbaḍa who was a Bania, defeated and killed the Kadamba king Mallika Arjuna of the Konkaṇa. This victory of Āmbaḍa is coroborated by Bālchandra in his Vasantavilāsa. Ajayadeva generally called Ajayapāla got from the king of Śāmbhara a golden Maṇḍapikā. Mūlarāja II, though a child, defeated the Turushkas, Mahamad Sāhabuddin Ghori. Bhīmadeva II was very charitable and extravagant. His kingdom was being devoured by his powerful Maṇḍalesas, whom he was unable to control. Bhīma was thus filled with anxiety about the fate of his kingom. One night a glorious and splendid god, the spirit of his grand-father Kumārapāla, appeared to him in a dream and said that in order to restore order and to prevent dismemberment of the kingdom and to save the Jain faith, which was almost sinking, he should make Lavaṇaprasāda, son of Arṇorāja, son of Dhavala, to whom he had given the principality of Bhīmapalli, his Sarveśvara and make his son Vīradhavala his Yuvarāja. Vīradhavala then requested king Bhīma to give him good counsellors. Bhīma said that there served in this realm, Chanḍapa fiery in splendour, of the Porvāda lineage. His son was Chanḍaprasāda. His son Soma, who served under Jayasimha, acknowledged no master but king Siddharāja

(1) सारस्वतामृतमहार्णवपूर्णिमेन्दोर्मत्वाऽरिसिंहसुकवेः कवितारहस्यम् ।
किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किञ्चिद् व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृत्रेऽत्र सूत्रम् ॥
काव्यकल्पलतावृत्ति I–I ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jayasimha, and no god but the lord of the Jinas. His son Aśvarāja who made the universe splendid with his glory made seven pilgrimages in order to escape seven hells. His wife Kumāradevi, though eminent in the Jaina religion, also had faith in Śiva. They had three sons–Malladeva, Vastupāla and Tejahpāla. Bhīma then gave Vastupāla and Tejahpāla as Vīrādhavala's counsellors, and said to him that his heroism, which will have sight with these two as eyes, may now trample down his enemies by searching them out. The two ministers should fulfil also the massage of Kumārapāla–the glorification of the Jaina faith. This account, though it materially differs from that given by Someśvara in this Kīrtikaumudī, agrees with that in the two other contemporary works:–(1) Jayasimha's Vastupāla-Tejahpālapraśasti and (2) Udayaprabha's Sukṛtakīrtikallolinī. Vastupala's own words should have, however, more weight in this respect. In the Naranārāyaṇānanda he calls himself as the high minister of the Gurjareśvara and in its last canto he says that he accepted the dependence of the high-ministership of Bhīma, the lord of Gujarat, for the incessant occurence of the festival of faith without any obstacle, which is sweet on account of its splendid power.[1] Bālchandra's account, however, agrees with that of Someśvara.

In the *fourth* canto Arisimha says that Vīradhavala with the help of his ministers conquered the earth and put down all wrong and violence. Tejahpāla then requested Vastupāla to keep in mind the king's command and support the Jaina religion. Both approached their spiritual family preceptor Vijayasena Sūri of the Nāgendragachchha. On this occasion the succession of the priest of this gachchha is given. (1) Mahendra Sūri (2) Shānti Sūri and Amara Sūri, who received from king Jayasimha the title–" Tiger Cubs " as they had overcome proud disputants even in their infancy (4) Haribhadra Sūri (5) Vijayasena Sūri. Vijayasena Sūri explained to them the religious merits of becoming a Sanghādhipati. Vastupāla resolved to do so.

In the *fifth* canto are described the preparations for the great pilgrimage. Narachandra Sūri of the Maladhāri gachchha and spiritual adviser of Vāstupāla on his mother's side, Jinadatta Sūri of the Vāyaḍa gachchha, Śānti Sūri of the Saṇḍeraka gachchha and Vardhamāna Sūri of the Gallaka people were among the notable Āchāryas who accompanied. Mention is made of a halt at Kāsahrada, modern Kāsandra, and of the institution of a great festival in the temple of Ṛshabha.

In the *sixth* canto we have a conventional description of the sun-rise.

In the *seventh* canto is described the ascent of the mountain and the devotional festivities. After paying his respects to Kaparadi Yaksha, the presiding deity of the Tirtha, Vastupāla entered the main temple of Ādinātha. The Sangha stayed on the mountain for eight days.

In the *eighth* the pilgrimage to Deva pattana and Mount Girnar is described. From Śantrunjaya the Sangha started to Devapattana for offering worship to Somanātha. Thence it proceeded to Girnar. A camp was pitched at the foot of the mountain and a festival was held. Then follows the description of the worship of Neminātha and the festivals. Having paid homage to Ambā, the presiding deity of the Jain temples on Mt. Girnar and Sāmba and Pradyumna who had obtained salvation here, the Sangha descended after a stay of eight days.

---

(1) भास्वत्प्रभावमधुराय निरन्तरायधर्मोत्सवव्यतिकराय निरन्तराय ।
या गूर्जरावनिमहीपतिभीमभूपमन्त्रीन्द्रतापरवशत्वमपि प्रपेदे ॥ XV 135

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In the *ninth* is given a poetical description of the six seasons which the minister saw while descending.

In the *tenth* begins the return journey. The Sangha entered Vāmanasthalī—the modern Vanthali, in all magnificence. When the procession reached near Dholka, not only Tejahpāla but Vīradhavala came out with citizens to receive him. For a fuller description of the pilgrimage compare the last canto of the Dharmābhyudaya and the cantos eleven and twelve of the Vasantavilāsa.

In the *eleventh* canto the author describes the temples built and restored by Vastupāla.

In Anahilavāda Pattan:-

(1) The restoration of the temple of Panchāsara Pārśvanātha of Vanarāja.

In Cambay:-

(2) The erection of a golden staff and knob on the temple of Bhīmeśa.

(3) The erection of an Uttānpaṭṭa before Bhaṭṭāditya and of a golden wreath on his head.

(4) Excavation of a well in the temple grove called Vahaka of Bhaṭṭārka.

(5) The erection of a vestibule before the temple of the Sun-god Bakula.

(6) The restoration of the Maṇḍapa and of the temple of Vaidyanātha.

(7) The erection of high-walled enclosures for the sale of sour milk to avoid contamination.

(8) The erection of two Upāśrayas.

(9) The erection of a drinking hall with round windows on two sides.

In Dholka:-

(10) The Building of a temple of Ādinātha.

(11) The erection of two Upāśrayas.

(12) The restoration of the temple named Rāṇaka of Bhattārka.

(13) The construction of a Vāpī.

(14) The erection of a Prapā.

On the Śatruñjaya Hill:-

(15) The erection of an Indramaṇḍapa before the temple of Ādinātha.

(16) The erection of the temples of Neminātha and Stambhana Pārśvanātha.

(17) The erection of a statue of the Goddess of Sarasvatī.

(18) The erection of the statues of his ancestors.

(19) The setting up of three statues on elephants, his own, that of Tejahpāla and that of Vīradhavala.

(20) The erection of sculptures representing four summits of Mt. Girnar, Avalokana, Ambā, Sāmba, and Pradyumna.

(21) The preparation of a Toraṇa before the temple of Ādinātha.

(22) The erection of temples of Suvṛta of Broach and Mahāvira of Sāchor.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(23) The erection of a Pṛsṭhapaṭṭa of gold and precious stones below the image of Ādinātha.

(24) The raising of a golden Toraṇa.

In the vicinity of Pālitāṇā :-

(25) The excavation of a large tank.

(26) The erection of an Upāśraya.

(27) The erection of a Prapā.

In the village of Ānkevāliyā :-

(28) The digging of a tank.

On Mt. Girnar :-

(29) The erection of temples of Stambhana Pārśvanātha and Adīśvara of Śatruñjaya.

In Stambhana (Thāmna near Umreth) :-

(30) The restoration of the temple of Pārśvanātha.

(31) The erection of two Prapās near the temple of Pārśvanātha.

At Dabhoi :-

(32) The placing of golden capitals on the temple of Vaidyanātha, as the old ones were carried off by the king of Mālvā and also the erection of an image of the Sun-god.

On Mount Abu :-

(33) The building of a niche of Mallideva (in Samvat 1278) for the religious merits of the spirit of his elder brother Malladeva.

For fuller and more complete list of Vastupāla's temples and works of piety public utility, the reader is referred to Jinaharsha's Vastupālacharitra.

The date of the composition of the work — The Sukṛtasankīrtana was written before Samvat 1287, in which year the incriptions on Mt. Abu are dated., and after 1278 the date of building a niche of Mallinātha on Mt. Ābu, mentioned in the present work.

Dr. Bühler contributed a very valuable and exhaustive paper, *Das Sukrita-saṁkirtana,* in the *Sitzungberichte* of the Imperial Academy of Sciences of Vienna (Vol. CXIX, 1887) and an English traslation of the German paper was published in the Indian Antiquary Vol. XXXI (1902) pp. 477-495. For a complete and critical study of the career of this one of the greatest minister Gujarat has ever produced, one should read the introductions of the Naranārāyaṇānanda, Vasantavilāsa and Hammīramadamardana in the Gaekwad's Oriental Series. A photo of the statutes Vastupāla and his two wives will be found in the edition of the Naranārāyaṇānanda in the same series.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीर्तिकौमुदी-सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्ययोर्विशिष्टनामानुक्रमः ।

		पृष्ठ
अच्छोद (सरोवर)	की०	६
अजयदेव (अजयपाल चौलुक्यनृप)	सु०	१०३
अजयपाल (चौलुक्यनृप)	की०	९
अणहिलपाटक (गूर्जरराजधानी)	सु०	९६
अणहिल्लपुर (गूर्जरराजधानी)	की०	५
अणहिल्लपुरी (गुर्जरराजधानी)	सु०	१३३
अनुपमा (तेजःपालपत्नी)	की०	१४
अनूप (नृप)	सु०	१०३
अभिनन्द (कवि)	की०	४
अभ्युदयसिंह (भट)	की०	२५
अमरपण्डित (कवि)	सु०	९९, १०४, १०७, ११०, ११४, ११७, १२१, १२४, १२९, १३३, १३६
अमरसूरि (नागेन्द्रगच्छीय)	सु०	१०८
अम्बा (रैवतशिखर)	सु०	१३४
अरिसिंह (कवि)	सु०	९९, १०४, १०७, ११०, ११४, ११७, १२१, १२४, १२९, १३३, १३६
अर्कपालितक (ग्राम)	सु०	१३५
अर्णोराज (सपादलक्षनृप)	की०	८
,, (चौलुक्य)		९,१०४
अर्बुद (पर्वत)	सु०	१३५
अर्बुदाचल (पर्वत)	की०	९
अवलोकना (रैवतकशिखर)	सु०	१३४
अश्वराज (मन्त्री, वस्तुपालपिता)		१३,१४,१५, २३, १०६
आनन्दसूरि (नागेन्द्रगच्छीय)	सु०	१०८
आमशर्मा (गूर्जरराजपुरोहित)	की०	११
आहड (चापोत्कटनृप)	सु०	९९
इन्द्रमण्डप (स्थापत्यविशेष)	सु०	१३४
उज्जयन्त (रैवतक)		३९,१३४,१३५
कच्छ (जनपद)		७,१००
कपर्दी (यक्ष)		३८,११८,१३४
कर्ण (अङ्गराज)	की०	५
,, (कर्णदेव, चौलुक्यनृप)	की०	७
कर्णदेव (चौलुक्यनृप)	सु०	१०१
कादम्बरी (गद्यकाव्य)	की०	३
कान्यकुब्ज (जनपद)	सु०	१००
कालिका (देवी)	सु०	१०२
कालिदास (कवि)		३,४,१३३
काशि (काशीपुरी)	की०	५
कासहद (ग्राम)	सु०	११२
कुङ्कणेश (कोङ्कणनृप)	की०	८
कुमार (गूर्जरराजपुरोहित, सोमेश्वरदेवपिता)	की०	११
कुमारदेवी (वस्तुपालमाता)		१४,१०६
कुमारपाल (चौलुक्यनृप)		८,१०२,१०४,१०६
कुमारपुत्र (सोमेश्वरदेव)	की०	१०
कुलसिंह (भट)	की०	२५
कौङ्कण (जनपद)	सु०	१०३
कौरवेश्वर (दुर्योधन)	की०	५
क्षेमराज (चापोत्कटनृप)	सु०	९८
खङ्गार (सौराष्ट्रनृप)	की०	८
गङ्गा (नदी)	की०	५
गजाह्वय (हस्तिनापुर)	की०	५
गल्लक (गच्छविशेष)	सु०	१११
गाङ्गेय (भीष्मपितामह)	की०	५
गुलकुल (वंशविशेष)	की०	२४
गूर्जर (गूर्जरदेशवासी)	की०	११,१२
,, (जनपद)	सु०	१३१
गूर्जरधराधिपराजधानी (अणहिलपुर)	की०	११
गूर्जरपुर (अणहिलपुर)	की०	११,१३
गूर्जरराज (गूर्जरेश्वर, भीमदेव द्वि०)	की०	१८
गूर्जरराज्यलक्ष्मी (गूर्जरराज्याधिष्ठात्री देवी)	की०	१०
गूर्जरेन्द्र (गूर्जरदेशस्वामी)	की०	११
गूर्जरेश्वर (गूर्जरदेशस्वामी)	की०	७
गोद्रह (जनपद)	की०	१९
गौड (गौडदेशाधिप)	की०	८
चण्डप (मन्त्री, प्राग्वाट)		१३,३९,१०६,११७
चण्डप्रसाद (मन्त्री, चण्डपपुत्र)		१३,१०६
चम्पा (नगरी)	की०	५
चाणक्य (कौटिल्य)	की०	१३,१४,२५
चाचिगदेव (भट)	की०	२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

		पृष्ठ
चापोत्कट (राजवंश)	सु०	९६
चामुण्डराज (चौलुक्यनृप)		७,१००
,, (चापोत्कटनृप)	सु०	९८
चाहमान (राजवंश)	की०	४
चुलुक (राजवंश)	की०	२०
चुलुक्य (राजवंश)		१९,२०,१०४
चुलुक्यभर्त्ता (चौलुक्यनृप वीरधवल)	की०	२६
चैद्य (राजवंश)	की०	११
चौलुक्य (राजवंश)		७,४२,९९
चौलुक्यचन्द्र (वीरधवल)	की०	२५
चौलुक्यनृप (वीरधवल)	की०	२३
चौलुक्यवंश (राजवंश)	की०	९
जगज्झम्पन (वल्लभराज-बिरूद)		७,१००
जगद्देव (प्रतीहार)	की०	११
जयन्त (भट)	की०	२४
जयसिंह (चौलुक्यनृप, सिद्धराज)		८,१०८
,, (वस्तुपालपुत्र)	की०	१४
जाङ्गल (जनपद)	की०	८
जाङ्गलेश (जाङ्गलदेशनृपति)		९,१०३
जामदग्न्य (परशुराम)	की०	९
जिनदत्तसूरि (वायडगच्छीय)	सु०	१११
तापी (नदी)	की०	१९
तुरुष्क (जातिविशेष)	सु०	१०३
तुरुष्काधिपति (तुरुष्कजातीयनृप)	सु०	९
तेजःपाल (मन्त्री, वस्तुपालानुज)		१४,१०६, १३०,१३४
त्रिपुरी (नगरी)	की०	५
दक्षिण (जनपद)	की०	९
दक्षिणेन्द्र (दक्षिणदेशाधिप)	की०	१८
दर्पक (?)	की०	४
दर्भावती (नगरी)	सु०	१३५
दुर्लभराज (चौलुक्यनृप)		७,१०१
देवपत्तन (नगर)	सु०	१२१
धनपाल (कवि)	की०	३
धवल (चौलुक्यवंशीय, अर्णोराजपिता)		९,१०४
धवलकपुर (नगर)	सु०	१२९
धवलक्क (नगर)	सु०	१३०,१३४
धारा (नगरी)		५,८,१०१,१०२
धाराधीश (धारानृपति)	की०	९
नड्डूलनायक (नृपति)	की०	९
नरचन्द्र / **नरचन्द्रसूरि** } (कवि नागेन्द्रगच्छीय)	की०	४,१११
नरवर्मा (धाराधीश)	की०	८
नीलकण्ठ (कवि)	की०	४
नागेन्द्र (श्वेताम्बरगच्छविशेष)	सु०	११०
पञ्चासर (जिनमन्दिर)	सु०	९६,१३३
पत्तन (अणहिलपुर)		२०,१३२
पम्पा (सरोवर)	की०	६
परमार (राजवंश)	की०	८
पादलिप्तपुर (नगर)	सु०	१३५
प्रतापमल्ल (चौलुक्यसेनानायक)	की०	११
प्रद्युम्न (रैवतशिखर)	सु०	१३४
प्रभास (तीर्थविशेष)	की०	४१
प्रह्लादनदेव (कवि, नृपति)	की०	४
प्राग्वाट (वंशविशेष)		१३,१०६
बकपाटक (नगर)	की०	२१
बकुल (बकुलेश्वर-सूर्यमन्दिर)	सु०	१३३
बर्बर / **बर्बरक** } (राक्षस)		८,१०२
बल्लाल (नृप)	की०	९
बाण (कवि)	की०	३
बारप (सेनानायक)		७,१००
बिल्हण (कवि)	की०	४
भट्टादित्य (सूर्यमन्दिर)	सु०	१३३
भारवि (कवि)	की०	३
भीम (चौलुक्यनृप, प्रथम)		७,१०१
,, (चौलुक्यनृप, द्वितीय)		९,१०३
भीमदेव (,, ,,)	सु०	१०३
भीमपल्ली (ग्राम)	सु०	१०४
भीमेशवेश्म (शिवमन्दिर)	सु०	१३३
भुवनपाल (भट)	की०	२३,२४
भुवनसिंह (भट)	की०	२५
भूभट (चापोत्कटनृप)	सु०	९९
भृगुकच्छ (भृगुपुर)	की०	१९
भृगुपुर (भृगुकच्छ)	सु०	१३४
भोज (धारानृपति)		४,७,१०१
मथुरा (नगरी)	की०	५
मधूपघ्न (मथुरानगरी)	की०	५
मरु (जनपद)	की०	१९
मरुभूप (मरुजनपदनृपति)	की०	१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम			पृष्ठ
मल्लदेव	(मन्त्री, वस्तुपालाग्रज)		१४,१०६,१३५
मल्लिकार्जुन	(नृप)	की०	९
मही	(नदी)	की०	१९
महेन्द्रसूरि	(नागेन्द्रगच्छीय)	सु०	१०८
महोबकपति	(महोबकनगरनृप)	की०	८
माघ	(कवि)	की०	३,४
मानस	(सरोवर)	की०	६
मालव	(जनपद)		७,८,१००,१०१
मालवेश	(मालवनृपति)	सु०	१३५
मिथिला	(नगरी)	की०	५
मुञ्ज	(धाराधीश)	की०	४
मुञ्जालसुत	(मन्त्री)	की०	११
मूलराज	(चौलुक्यनृप, प्रथम)		७,११,९९
,,	(चौलुक्यनृप, द्वितीय)		९,१०३
यदु	(यदुवंशीय)	की०	१९,२०
यमुना	(नदी)	की०	५
यशोवर्मा	(धारानृपति)	सु०	१०२
यशोवीर	(कवि, मन्त्री)	की०	४
यादवेन्दु	(सिङ्घननृप)	की०	१८
यादवेन्द्र	(यदुवंशीयनृप)	की०	२१
योगराज	(चापोत्कटनृप)	सु०	९८
रत्नादित्य	(चापोत्कट)	सु०	९८
राष्ट्रकूट	(राजवंश)	की०	११
रैवतक	(पर्वत)		३९,१२२,१२३,१२९,१३५
लक्ष	(कच्छनृपति)		७,१००
लक्ष्मदेव	(नृप)	की०	२१
लङ्का	(नगरी)	की०	५
ललितादेवी	(वस्तुपालपत्नी)	की०	१४
लवणप्रसाद	(चौलुक्यवंशीय)		१०,१८,२०,२५
लवणप्रसादपुत्र	(वीरधवल)	की०	२०
लवणसिंह	(कवि अरिसिंहपिता)	सु०	१३३
लाट	(जनपद)	की०	१९
लाटेश्वर	(लाटजनपदनृपति)	की०	७
लावण्यप्रसाद	(लवणप्रसाद)		९,१०५
लावण्यसिंह	(तेजःपालपुत्र)	की०	१४
,,	(लवणप्रसाद)	सु०	१२४
वटकूप	(सरोवर)	की०	२३
वनराज	(चापोत्कटनृप)	सु०	९८,१३३
वनराजदेव	(,,)	सु०	९६
वर्द्धमान	(आचार्य, गल्लकगच्छीय)	सु०	१११
वल्लभराज	(चौलुक्यनृप)		७,१००
वसन्त	(वस्तुपाल)	सु०	११४,१२८,१३६
वसन्तपाल	(,,)	सु०	१०७
वस्तुपाल	(वीरधवल-महामन्त्री)		४,५,१४,१६,१७,२६,२७,३४,३७,३८,३९,४१,४२,९९,१०३,१०४,१०६,१०७,११०,११४,११७,१२१,१२४,१२८,१२९,१३०,१३१,१३३,१३५,१३६
वहक	(वन)	सु०	१३३
वामनस्थली	(स्थलविशेष)	सु०	१२९
वायटगच्छ	(श्वेताम्बरगच्छविशेष)	सु०	१११
वाल्मीकि	(आदिकवि)	की०	३
विक्रमसिंह	(भट)	की०	२५
विजय	(भट)	की०	२५
विजयसेन	(कवि, नागेन्द्रगच्छीयआचार्य)	सु०	१०८
विदिशा	(नगरी)	की०	५
विन्ध्याचल	(पर्वत)	सु०	१०२
विमल	(शत्रुञ्जयपर्वत)	सु०	१२०,१३५
विमलगिरि	(,,)	सु०	११७
वीर	(वीरधवल)	की०	१७,१९,२५
वीरधवल	(चौलुक्यवंशीयनृप, लवणप्रसादपुत्र)		१०,११,१२,२३,१०५,१०६,१०७,१३०,१३१,१३३,१३४
वीरनृप	(वीरधवल)	की०	२३
वीरभूपाल	(वीरधवल)	की०	२८
वीरम	(भट)	की०	२४
वैद्यनाथशिवसद्म	(शिवमन्दिर)	सु०	१३३
वैद्यनाथसदन	(,,)	सु०	१३५
वैरिसिंह	(चापोत्कटनृप)	सु०	९८
शङ्ख	(सिन्धुराज, सङ्ग्रामसिंह)		२०,२३,२४,२५,११०,११४,१२१,१३६
शत्रुञ्जय	(पर्वत)		३८,११२,११३,११७,१२०,१३४,१३५
शाकम्भरी	(जनपद)	की०	८
शान्तिसूरि	(नागेन्द्रगच्छीय)	सु०	१०८
,,	(सण्डेरकगच्छीय)	सु०	१११
शाम्ब	(रैवत-शिखरविशेष)	सु०	१३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

		पृष्ठ
सङ्ग्रामसिंह (शङ्ख, सिन्धुराज)		२४,२५,१०७, १२४, १२९
सण्डेरकगच्छ (श्वेताम्बरगच्छविशेष)	सु०	१११
सत्यपुर (नगर)	सु०	१३४
सपादलक्ष (जनपद)	सु०	१०३
सरयू (नदी)	की०	५
साकेत (अयोध्या)	की०	५
सामन्त (भट)	की०	२४
सिंह (नृप)	की०	२१
सिङ्घन (नृप)	की०	१८,१९,२०,२२
सिताम्बर (श्वेताम्बरजैनसंप्रदाय)	सु०	१०८
सिद्ध (सिद्धराज जयसिंह)	की०	६
सिद्धराज (जयसिंह)	की०	८,१३
सिद्धसर (सरोवर)	सु०	१०२
सिद्धेश (सिद्धराज जयसिंह)	की०	१३
सिद्धाधिपति (सिद्धराज जयसिंह)	सु०	१०६
सिद्धेश्वर (स्थलविशेष)	की०	२१
सिन्धुपति (सिन्धुजनपदनृप)	की०	८
सिन्धुराज (शङ्ख, संग्रामसिंह)	सु०	१३३
सिन्धुराजसूनु (शङ्ख, सङ्ग्रामसिंह)	की०	२०,२१
सिन्धुराजात्मज (शङ्ख, सङ्ग्रामसिंह)	की०	२३
सीता (मन्त्रिसोमपत्नी, अश्वराजमाता)	की०	१३
सुभट (कवि)	की०	४
,, (सेनानायक)	की०	९
सोम (मन्त्री, अश्वराजपिता)		१३, २५, ९९, १०६,११०,१३१
सोमनाथ (ज्योतिर्लिङ्ग)		४१,१००,१०२,१२१
सोमसिंह (भट)	की०	२५
सोमेश्वरदेव (गूर्जरराजपुरोहित)	की०	५,१०
सौराष्ट्र (जनपद)	की०	८,४१
स्तम्भतीर्थ (नगर)		१७,१३३,१३६
स्तम्भन (तीर्थ)	सु०	१३४,१३५
हिमालय (पर्वत)	की०	५
हरिभद्रसूरि (नागेन्द्रगच्छीय)	सु०	१०८
हरिहर (कवि)	की०	४
हेमसूरि (कविकालसर्वज्ञ सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आचार्य)	की०	४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय परिशिष्ट ।

श्रीअरिसिंहविरचितं

सुकृतसंकीर्त्तनमहाकाव्यम् ।

★

[पृष्ठाङ्क ९६–१३६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमः ।

१. चापोत्कटान्वयवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

२. चौलुक्यान्वयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

३. मन्त्रिप्रकाशो नाम तृतीयः सर्गः ।

४. धर्मदेशनो नाम चतुर्थः सर्गः ।

५. सङ्घप्रस्थानो नाम पञ्चमः सर्गः ।

६. सूर्योदयवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।

७. शत्रुञ्जयदर्शनो नाम सप्तमः सर्गः ।

८. नेमिदर्शनो नाम अष्टमः सर्गः ।

९. षड्ऋतुवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।

१०. पुरप्रवेशो नाम दशमः सर्गः ।

११. सकलकीर्त्तनकीर्त्तनो नामैकादशः सर्गः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमः सर्गः ।

वनराजः

श्रीवेस्मविस्मयमयप्रबलप्रतापश्चापोत्कटान्वयवनैकहरिर्नरेन्द्रः ।
आसीदसीमचरितः परितप्तशत्रुभालार्पिताङ्घ्रिनलिनो **वनराजदेवः** ॥ १ ॥

यत्खड्गखण्डितविरोधिशिरोऽधिरक्तस्रोतस्विनीभिरुदधिर्विदधे सरागः ।
येनाऽधुनाऽप्यरुणतां भजतस्तदङ्गसम्पर्कतोऽर्क-शशिनावुदयक्षणेषु ॥ २ ॥

निर्गत्य कोशकुहरादसिदन्दशूकः, श्यामो यथागतमगात् त्वरितं यदीयः ।
एतेषु मास्म विशदेष परैरितीव, रुद्धेषु वक्त्रविवरेषु कराङ्गुलीभिः ॥ ३ ॥

खट्वाङ्गसङ्गतकरस्तरवारिलग्नकृत्तारिमुण्डमिषतः समराङ्गणे यः ।
भालाधिरोपितहुताशनचण्डचक्षुराभादिभासुरविरोधिविभासुरश्रीः ॥ ४ ॥

तेने कृतान्तसमतां रसनासनाभि-धारोद्धुरो यदसिरञ्जनमञ्जुलश्रीः ।
अह्नाय यस्य युधि दर्शनसंज्ञयैव, भिन्दन्नरीनधित किङ्करतां कृतान्तः ॥ ५ ॥

स्तब्धप्रकम्पितविलीनविवर्णगात्रैः, खिन्नैर्विभङ्गुररवस्फुरदश्रुलेशम् ।
उन्मुच्य पौरुषमवाप्य च भीरुभावं, यः सेव्यते रिपुभिरुत्पुलकैः प्रसन्नः ॥ ६ ॥

आकर्ण्य तूर्णमुपकर्णयितुं च यस्य, कीर्तिं मुहुर्भुजगभीरुगणेन गीताम् ।
चक्षुःश्रवा रसवशेन दृशां निमेषोन्मेषक्रियामनिमिषोऽपि चकार शेषः ॥ ७ ॥

वक्रीकृते धनुषि मौक्तिकताडपत्रज्योत्स्नाम्बुभारभृति पल्वलतां दधाने ।
यस्याऽऽननं विकचवारिजकल्पमन्तर्भेजे विहाय परराजकरान् जयश्रीः ॥ ८ ॥

श्रीमत् पुरं भुवि पुरन्दरपत्तनाभं, तेनाऽऽदधेऽ**णहिल्लपाटक**नामधेयम् ।
स्त्रीणां मुखे स्मरतपस्विवनेऽजनीन्दुपद्मश्रियोरसुहृदोरपि यत्र योगः ॥ ९ ॥

अन्तर्वसद्घनजनाद्भुतभारतो भूर्मा भ्रश्यतादिति भृशं **वनराजदेवः** ।
पञ्चासराह्वनवपार्श्वजिनेशवेश्मव्याजादिह क्षितिधरं नवमाततान ॥ १० ॥

---

१ ग–"विशीर्ण" ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्मिन् सदैव निकृतानि निकेतनाग्र-जाग्रन्मणिद्युतिभरैर्नितमां तमांसि ।
आरम्भकालिममिषेण बहिःस्थितानि, तानि प्रसर्पदरघट्टरवै रटन्ति ॥ ११
जाड्यं जनेषु रजनीजनितं विभिन्द-न्नुद्दीपयन्नपि दिवाकरकान्तचुल्लीः ।
जालान्तरागतकरस्तरणिर्द्विधाऽपि, यस्मिन्नभूदनुगृहं ननु सूपकारः ॥ १२
यस्मिन् विलाससदनेषु विलासवत्यः, पत्युः करेऽपहृतवत्यधरोत्तरीयम् ।
रत्नप्रदीपविफलीकृतफूत्कृतस्त-न्नेत्रे निमील्य सुखतो दधतेऽन्धकारम् ॥ १३
पर्वक्षणे न खलु निश्चिनुते दिनेषु, सूर्यं सुवर्णसुरसद्मकिरीटकुम्भैः ।
यत्रोन्नतालयशिरःपुरयोषिदास्यै-र्नैव क्षिपापतिमपि क्षणदासु राहुः ॥ १४
सङ्कोचिताम्बुजकुलोऽपि हतार्ककान्त-क्रीडोऽपि पीडितरथाङ्गकुटुम्बकोऽपि ।
प्रातः प्रयाति विधुरुज्ज्वल एव यत्र, सौधावनिस्खलितधामनि धामनाथे ॥ १५
रुद्धेऽपि यत्र मरुदध्वनि वारिवाहै-र्लोकैः सदा नियमभानुविलोकभोजी ।
पूर्वाद्रिमौलिगतमेव गृहाधिरोहा-दर्कं विलोक्य लगति व्यवसायवीथ्याम् ॥ १६
यत्र प्रतिक्षणविवृद्धरसातिरेक-निष्कम्पदम्पतिकदम्बककैतवेन ।
रत्या सहाजनि निकाममनेकमूर्त्ति-रेकाङ्गमोहनरसैः स्मृतिभूरतृप्तः ॥ १७
यत्रोच्चसौधभुवि सव्यकारात्तपिण्डविश्रम्भिणां गगनसिन्धुजलद्विपानाम् ।
कुम्भान् विभूषयति भीरुगणः स्वभाल-सिन्दूरधूलिभिरसव्यकरोद्धृताभिः ॥ १८
यस्मिन्नुपर्युपरि गन्तुमशक्नुवन्तो, दूरेण सूरतुरगाः परितः स्फुरन्तः ।
उच्चैर्विशालमणिसालगतस्वबिम्ब-स्पर्द्धाप्लुतैर्दिनमितिं परिमाणयन्ति ॥ १९
चेद् योग्यताऽस्ति परिखां पिब मे त्वमेहि, विन्ध्योऽप्युदञ्चतु मयाऽपि हतोऽर्कमार्गः ।
यत्रेति केतुपटकिङ्किणिकारवैः खे, वप्रो वदत्युदधिपायिनमप्यगस्तिम् ॥ २०
मन्दाकिनी वियति तुङ्गविशालसाल-रोधद्विधाप्रसृमरा परितः स्फुरन्ती ।
शङ्के सुराधिपतिनिग्रहविग्रहाय, यत्रान्तरालपरिखाश्रियमादधाति ॥ २१
भुग्नानि भूमिधरभासुरसालभित्ति-भागेषु मारविवराण्यभितोऽपि यत्र ।
व्योमापगाजलगजप्रतिमानसीम-निर्मग्नदन्तहतिलक्ष्मनिभानि भान्ति ॥ २२
यद्रत्नवेश्मपरिमार्जनिकारजोभि-र्दूरोज्झितैरुपवनावनिदोषभीत्या ।
अभ्रंलिहो जगति यः पटुरत्नगर्भैः, कूटः किलाजनि जनेषु सुरत्नसानुः ॥ २३
यस्मिन् जनाय मणिवेश्मविभाविभिन्न-ध्वान्तोत्करेऽपि कथयन्ति विभातभावम् ।
लीलासरोवरसरोरुहिणीविकाश-सौरभ्यलुभ्यदलिनीकलकूजितानि ॥ २४

---

१ ग-क्षपाप ॥ २ ग-भग्नानि ॥

सत्यश्रमेण कृतकानि गृहेषु हत्वा, हन्तव्यरूपकशतानि विशीर्णदन्तः ।
सत्यान्यपि प्रतिभयेन न तानि हन्ति, सम्प्राप्तधर्म इव यत्र बिडालकोऽपि ॥ २५

यद्दानिदानमुदितेन वनीपकेन, लभ्यः प्रभूतसुकृतैः कथमप्यवाप्तः ।
छाया-विभूषण-पयोऽर्पणहेतुरेव, देवद्रु-रत्न-सुरभीविभवोऽपि भेजे ॥ २६

योगराजः

तत्रावनीविभुरभूद् **वनराज**राज्य-राजीवभानुररिवर्गवनीकृशानुः ।
श्री**योगराज** इति यस्य रराज पाणि-पद्मेऽब्धिपक्षसुभगा भ्रमरीव भूमिः ॥ २७

यस्यासिधेनुफलके नवनागवल्लि-पत्रोपमे मुखमुपेयुषि भूभुजङ्गैः ।
सद्यस्करक्तरसनैरभिवीरशय्या-माश्लिष्यते स्म जगती नवमोहनेन ॥ २८

रत्नादित्यः

भारं भुवो भुजभरेण बभार **रत्ना-दित्य**स्ततः क्षितिपमण्डलमौलिरत्नम् ।
चण्डासिदण्डदलितोरुतरावनीभृ-द्वंशालिविस्फुरितमौक्तिककल्पकीर्त्तिः ॥ २९

आदेशपत्रमिव यत्तरवारिदण्डं, वीक्ष्यैव दण्डधरचण्डधराधिपस्य ।
चक्रे प्रयाणकमरातिनरेन्द्रवर्गः, स्वर्गं प्रति त्वरितमद्भुतभीतिभावात् ॥ ३०

वैरिसिंहः

दुर्वारवारणघटोत्कटवैरिसिंहः, श्री**वैरिसिंह** इति भूदयितस्ततोऽभूत् ।
यत्कीर्तिकान्तिविशदेषु जगत्सु पाणि-स्पर्शेन चन्द्रमसमाकलयन्ति ताराः ॥ ३१

प्रत्यर्थिपार्थिवगणः समराङ्गणेषु, ग्रीष्मातिभीष्मतरणिद्युतिभारतुल्यैः ।
तप्तो महोभिरिव यस्य कृपाणवल्लि-धारागृहव्यतिकरव्यसनी बभूव ॥ ३२

क्षेमराजः

श्री**क्षेमराज**नृपतिर्वसुधां सुधांशु-ज्योत्स्नासमुज्ज्वलयशाः प्रशशास तस्मात् ।
यस्यासिवल्लिरिभकुम्भविभेदलग्न-मुक्ताफलैः कुसुमिता फलिता जयेन ॥ ३३

धूमीभवद्यदसिवल्लिरतीवतीव्रः, कोपानलः किमपि यस्य हृदि प्रदीप्तः ।
प्रत्यर्थिपार्थिवचमूरमणीसमूह-बाष्पाम्बुभिर्भृशमयं शमयाम्बभूवे ॥ ३४

चामुण्डराजः

विश्वप्रभुः कुतुककन्दुकितारिमुण्ड-**श्चामुण्डराज** इति राजयति स्म तस्मात् ।
पूरे प्रसर्पति यदीययशस्तटिन्या, दूरादमज्जदुडुपः सह तारकौघैः ॥ ३५

निर्यन् पयोमयपयोधिजलाद् घनान्ते, वीक्ष्याभितो जगति यस्य यशःप्रकाशम् ।
अद्यापि नापतति पारमिति प्रसर्पन्, लोकान्तशैलशिखरैः स्खलितो मुरारिः ॥ ३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहडः

आसीदथ प्रबलशत्रुयशःशशाङ्क-श्रीराहुराहड इति क्षितिजीवितेशः ।
निर्लोठितोऽद्भुतयदीयकलाकलापै-र्मग्नः शशी किल तदीययशःसमुद्रे ॥ ३७
यत्कीर्त्तिमेव धवलामवलोक्य लोके, लोकोऽयमन्वहममन्यत पूर्णमासीम् ।
एतां पुनः सततमात्मनि चन्द्रचारं, पश्यन् कुहूतिथिवितर्कमवापदर्कः ॥ ३८

भूभटः

श्रीभूभटो रिपुभटोच्चयभेदरक्त-प्रोल्लासपल्लवितखड्गलतस्ततोऽभूत् ।
दिक्कुम्भिकुम्भमिषदिग्वनिताकुचाग्र-क्रीडाविशृङ्खलयशा जगतीभुजङ्गः ॥ ३९
दानच्छटासुरभिशीतलदिक्करेणु-लीलाचलश्रवणतालमरुत्तरङ्गैः ।
यत्कीर्त्तिमन्वहमिलाग्रविलासखिन्नां, दिग्योषितो जलधिसीमनि वीजयन्ति ॥ ४०
हरहसितसितानि तानि तन्व-न्नतनुतमानि जगत्त्रयीयशांसि ।
चिरमयमवनिं शशास भास्व-त्तरतरवारिनिवारितारिवर्गः ॥ ४१

किञ्च—

दीर्घायुर्भवतादिति द्विजवरैर्ब्रह्मायुरित्यन्वहं,
बन्दीन्द्रैरजरामरेति च कुलस्त्रीभिस्त्वमाशास्यसे ।
श्रीमन्त्रीश्वर वस्तुपाल ! किमपि ब्रूमस्तु विस्तारिणी,
कीर्तिर्नृत्यति यावदेव दिवि ते तावद् भवान् नन्दतात् ॥ १

उद्भ्रान्तैः सहसा पिनाकचलने क्षीरार्णवोल्लङ्घना-जङ्घालैः खरदूषणप्रशमनप्रारम्भसंरम्भितैः ।
उच्चै रावणनाशभासुरतरैरेभिर्यशोभिर्बभौ, श्रीसोमान्वयजोऽयमर्ककुलजक्षोणीधरस्पर्द्धया ॥ २
जैनं किलैनं जगदुः शिवेऽपि, श्रीवस्तुपालः सचिवस्तु भक्तः ।
शङ्काद् गृहीतैः शुचिकीर्त्तिनीरै-रसिस्नपद् योऽम्बरमूर्त्तिमीशम् ॥ ३
सदा प्रसादोन्मुखवस्तुपाल-दृक्पातपीयूषरसानुकारम् ।
अमुं प्रबन्धं प्रतिवादिदन्ति-सिंहोऽरिसिंहो रचयाञ्चकार ॥ ४
प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मि-न्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति श्रीसुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये चापोत्कटान्वयवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

मूलराजः

पदेऽथ तस्याजनि भागिनेयः, चौलुक्यवंशार्णवपूर्णचन्द्रः ।
श्रीमूलराजः प्रतिकूलराज-समूलनिर्मूलनबद्धमूलः ॥ १

१ क-'निभानि भानि' इति पाठः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथाऽस्य तेजोभिररातिजाति-रवाप तापव्यसनं वनान्ते ।
यथा हिमाम्भःकणसङ्गमङ्गे, दवस्फुलिङ्गेषु लगत्सु मेने ॥ २

सुव्यक्तभक्तिः प्रतिसोमवारं, यः **सोमनाथं** प्रणिपत्य वीरः ।
तद्भालनेत्रानलचन्द्रभाभि-र्बभार तेजश्च यशश्च पुष्टम् ॥ ३

सम्पूर्णशक्तित्रयसम्भवा यः, शम्भुत्रयीर्देवगृहच्छलेन ।
कीर्तिस्त्रिधा मूर्त्तिमतीः पताका-हस्तैर्नटन्तीर्घटयाञ्चकार ॥ ४

विजित्य यः संयति **कन्यकुब्ज**-महीभुजो **बारप**दण्डनाथम् ।
जहार हस्तिप्रकरं कराग्र-सूत्कारसंदीपितपौरुषाग्निम् ॥ ५

न भूभृतः केऽपि यदग्रभागे, भेजुर्गुरुत्वं किल साऽपि मग्ना ।
अदृश्यतां यत्तरवारिवारि-निधौ दधौ कच्छपलक्षसेना ॥ ६

स्वर्गं जिगीषुश्चरणाग्रलग्न-मग्निं विधूय प्रबलप्रतापः ।
महो महीयानसहिष्णुरन्यद्, बिभेद भानोरपि मण्डलं यः ॥ ७

चामुण्डराजः

क्ष्माखण्डमाखण्डलचण्डशक्ति-**श्चामुण्डराजः** प्रशशास तस्मात् ।
द्विषां मुखे क्रष्टुमसूनिवान्तः, कृतान्तबाहुर्यदसिर्विवेश ॥ ८

अजस्रमस्रैर्वनपादपानां, यस्यारिनारीभिरकारि सेकः ।
सान्द्रच्छदच्छायतया महान्त-स्ताभ्योऽपि ते प्रत्युपकुर्वते स्म ॥ ९

वल्लभराजः

तस्माद् भुजङ्गेन्द्रभुजो बभूव, भूवल्लभो **वल्लभराजदेवः** ।
यत्कीर्त्तिदासीकृतकौमुदीन्दु-मुखीमुखेन्दौ विशदोऽयमङ्कः ॥ १०

अटन्नटव्यां यदरातिवर्गो, दरातिरेकोज्झितराजलोकः ।
रीणोऽप्यतिक्रम्य पराक्रमेण, हरीन् दरीमन्दिरयाञ्चकार ॥ ११

जटालमौलिर्मृगचर्मवासा, निःस्वः फलाशी वनमध्यवासी ।
अध्यायदुग्रं हृदि यं तपस्वी, सदाऽपि रूपस्थमरातिभूपः ॥ १२

कच्चिन्न भङ्गोऽस्य भविष्यतीति, भाले लिपिं **मालवभूमिभर्तुः** ।
आरुह्य चूडामणिबिम्बदम्भा-ल्लुलोप कोपी यदसिर्जलाढ्यः ॥ १३

ऊर्ध्वस्थितारातिचमूसमूह-प्रच्छादनोच्छृङ्खलसैन्यरेणुः ।
यो धैर्यधुर्यो जगति द्वितीयां, दधौ जगज्झम्पन इत्यभिख्याम् ॥ १४

---

१ क-ख-°रको ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्लभराजः

अभूच्च न्यायपरः परस्त्री-सुदुर्लभो **दुर्लभराज**राजः ।
यः कृष्णसाम्ये कथितैः कवीन्द्रै-र्विचिन्त्य गोपीचरितं ललज्जे ॥ १५
तमीदिने व्यत्ययतो वितेनु-र्यद्वैरिणः प्राप्य महीध्ररन्ध्रम् ।
तदौषधीदीपितमाप्रदोषात्, तमिस्रमिश्रं पुनराप्रभावात् ॥ १६

भीमराजः

अथावनीशोऽजनि शौर्यसीमा, **भीमा**भिधो येन युधि द्विषन्तः ।
श्रीभीम ! रक्षेति हरं स्मरन्तः, स्वध्यानबुद्ध्या मुदितेन मुक्ताः ॥ १७
वित्रस्यतो **मालव**भूमिभर्तु-र्श्रेष्ठेऽशुके गुप्तधृतत्रपस्य ।
यत्सैन्यधूलीभिरदृश्यवक्त्रा-म्भोजस्य **भोज**स्य हृदा न दीर्णम् ॥ १८
सर्वत्र सञ्चारिषु यच्चरेषु, चरन्नरण्येऽरिनरेन्द्रवर्गः ।
दरेण नश्यँल्लघुकन्दरेऽपि, गुणाय कार्श्यं गणयाम्बभूवे ॥ १९

कर्णदेवः

श्री**कर्णदेवो**ऽथ नृपस्त्रिलोक-विलोकनीयद्युतिराशिरासीत् ।
यं वीक्ष्य नारीहृदयैकवासो-धिकं ह्रियाऽभून्मदनोऽप्यनङ्गः ॥ २०
पूजासु पाणिस्थितपुष्पमाल-मालोकयन् यं पुरतः पुरारिः ।
क्रुद्धोऽपि पुष्पायुधयुद्धबुद्ध्या, भेजे भवानीहसितः प्रसत्तिम् ॥ २१
सम्पालयन्तो यदरीन् दरीषु, स्फुटं कुटुम्बित्वगता गिरीन्द्राः ।
अद्यापि दीप्तौषधिदीपदीप्ताः, क्षपां सशङ्काः क्षपयन्ति शङ्के ॥ २२
जित्वा बलै**र्मालव**भूमिपाल-मानीतवान् यः किल नीलकण्ठम् ।
तन्मूर्ध्नि सिन्धुप्रथिताध्वसंख्यं, प्रैषीद् यशः स्वं भुवनत्रयेऽपि ॥ २३

जयसिंहदेवः

बभार भूर्भारमथो जयश्री-निकेतनं श्री**जयसिंहदेवः** ।
भाले रराज प्रतिराजकस्य, राज्यप्रतिष्ठातिलको यदङ्कः ॥ २४
यत्र क्षितिं रक्षति काङ्क्षति स्म, **धारा** न धाराधरधोरणीनाम् ।
न वैरिदृग्वारिनदीकदम्बै-र्नदीनदीमातृक एव लोकः ॥ २५
उद्दामदानप्रसरस्य यस्य, लसद्यशोदुग्धपयोधिमध्ये ।
कल्पद्रु-चिन्तामणि-कामधेनु-यशोभिरासाद्यत मौक्तिकत्वम् ॥ २६

---

१ ख-कथिते ॥ २ ख-महीन्द्र° ॥ ३ ख-ग-मूर्द्धसि° ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सवार्द्धिमुर्वीमपि ये भुजेना-न्वहं वहन्तः क्षितिपा न खिन्नाः ।
क्ष्मालेशजैर्मूर्ध्नि घटैः क तेषां, खेदोऽस्तु यद्द्वारि सवारिलेशैः ? ॥ २७

युग्मेन यस्यासिलता प्रताप-कीर्त्ती प्रसूयाऽरमयत् कृतार्था ।
उच्चै रवीन्दुद्विककन्दुकश्री-शिल्पे बलान्दोलिनि विश्वतल्पे ॥ २८

धृता चिरं या हृदये निरस्ता, सा **कालिका** यज्जनितप्रसक्त्या ।
विलग्नहिञ्जीरकिणच्छलेन, स्थातुं पपात द्विषतां पदेषु ॥ २९

यस्य द्विषां कण्टककूटकोटि-क्षतानि कान्तारजुषां तनूषु ।
नव्यानि नित्यं भृशमापुराप-न्नवाङ्गनासङ्गनखाङ्कशोभाम् ॥ ३०

इष्टैः स्मृतैरप्यपरैः प्रकृष्टै-ररक्षिता यस्य युधि क्षतेभ्यः ।
त्रस्ताः श्वसन्तो रिपवः समस्ता, व्यस्तारयन् नास्तिकदृष्टिसृष्टिम् ॥ ३१

अपि द्विषः प्रागकृतप्रहारा-नभिन्दतामात्मचमूभटानाम् ।
स्पर्शेन पूतानपि यस्तुरङ्गान्, गङ्गाम्भसि क्षालयति स्म कीर्त्यै ॥ ३२

यः सञ्चरन् **बर्बर**खेचरस्य, स्कन्धाधिरूढो रचयाञ्चकार ।
मुखश्रिया सेन्दु दिवाऽपि देह-द्योतेन दोषाऽपि नभः सभानु ॥ ३३

यदीयकारागृहमाप्य **धारा**-पतिर्यशोवर्मनृपः सिषेवे ।
कम्पैः सदा बाष्पपयोभिरुष्ण-श्वासैश्च कालत्रयमेककालम् ॥ ३४

यत्कारितं **सिद्धसरः** सरस्वत्-पाताऽपि पातुं घटभूरशक्तः ।
न प्राग्यशोभङ्गभयादुपैति, च्छद्मैव **विन्ध्याचल**वृद्धिरक्षा ॥ ३५

श्री**सोमनाथो**ऽपि कृपैकपात्रं, यं मातृभक्त्यैकशुचिं विलोक्य ।
दक्षक्रतुब्रह्मशिरश्छिदादि-पापोर्मिनिर्मुक्तममन्यत स्वम् ॥ ३६

विश्वं जगद् येन विजित्य कीर्त्ति-स्तम्भस्तथा कोऽपि महानकारि ।
यथा हिमाद्रेरिव यस्य मूर्ध्नि, नभोनदी केतुपदं प्रपेदे ॥ ३७

लीलावलुप्तद्विजनायकस्य, यशःकुमारस्य कथाप्रथाभिः ।
विलज्जितो यः सततं द्विजेन्द्र-स्थानप्रदानव्यसनी नरेन्द्रः ॥ ३८

कुमारपालदेवः

तन्वत्यथाहर्गमनं सुधाभृद्-बुधालिगोष्ठीरसवञ्चितेऽस्मिन्[1] ।
कुमारपालः किल भूमिपालः, श्रियं मुमोष द्विषतां सरोषः ॥ ३९

हठाद्धरन्तं श्रियमब्जिनीनां, राजानमस्ते सति धामनाथे ।
यशो भटैर्यः प्रकटैर्न्यकार्षी-दमर्तृकस्त्रीधनमुक्तिधन्यः ॥ ४०

१ क-ख-°भिर्युधालि° ॥

भृगोः सुतेनेव जिनस्य धर्म-मुल्लास्य येन स्मितमार्गणेन ।
क्षतक्षमैरभ्रनववर्त्मनैव, हंसैरिवाशोभि जगद् यशोभिः ॥ ४१

सितांशुना कीर्त्तिविनिर्जितेन, ज्योत्स्नाततिढौंकनिकीकृतेव ।
न्यक्षेपि येनानुपुरं विहार-च्छलेन ढक्कैरवहर्षहेतुः ॥ ४२

युधि स्वयं यः किल **जाङ्गलेशं**, बली विजिग्ये किमु चित्रमत्र ? ।
अनूपभूपो वणिजाऽपि यस्य, यतो जितः **कौङ्कण**चक्रवर्त्ती ॥ ४३

अजयपालदेवः

अथोरुधामाऽ**जयदेव**नामा, ररक्ष दक्षः क्षितिमक्षतौजाः ।
न केऽपि कारकुहरेऽप्यरण्य-देशेऽपि नो यस्य ममुर्द्विषन्तः ॥ ४४

सपादलक्षप्रभुणा प्रदत्ता, रौक्मी बभौ मण्डपिका सभायाम् ।
सेवागतो मेरुरिव स्थिरत्व-जितो भृशं यस्य कृशप्रतापः ॥ ४५

बालमूलराजः

तदङ्गजो दिग्गजदन्तशय्या-विश्रान्तकीर्त्तिः किल **मूलराजः** ।
तुरुष्कशीर्षाणि शिशुर्जयश्री-लताफलानीव लसन्नगृह्णात् ॥ ४६

यस्मिन् सदोच्चैःशिरसि प्रतीची-महीभृति स्फारबलाम्बुराशौ ।
अस्तं समस्तारियशःशशाङ्क-प्रतापचण्डद्युतिमण्डलाभ्याम् ॥ ४७

भीमदेवः

श्री**भीमदेवो**ऽस्ति निरर्गलोग्र-भुजार्गलग्रस्तसमस्तशत्रुः ।
बिभ्रत् करे भूवलयं पयोधि-वेलामिलन्मौक्तिकमस्य बन्धुः ॥ ४८

आजन्म सद्म द्युसदां मदेक-क्षणप्रदानात् क्षयमेष मा गात् ।
इति स्मरन् यः कनकानि दातु-मुन्मूलयामास न हेमशैलम् ॥ ४९

यद्दानमश्रावि सदानुभूत-मेवार्थिभिर्गीतिषु खेचरीणाम् ।
विलासहेमाद्रिषु मेरुपाद-धियाऽऽगतानां स्वगृहोपकण्ठे ॥ ५०

सततविततदानक्षीणनिःशेषलक्ष्मी-रितसितरुचिकीर्ति**भीम**भूमीभुजङ्गः ।
बलकवलितभूमीमण्डलो मण्डलेशै-श्चिरमुपचितचिन्ताचान्तचिन्तान्तरोऽभूत् ॥ ५१

किञ्च—

स्वर्धेनु-शाखि-मणयः ! किमु यूयमेवं, लीनाः सुराचलशिलासु विसंस्थुलासु ? ।
भूमिं विभूषयत कोऽपि न याचते वः, श्री**वस्तुपाल**सचिवस्तु सनातनायुः ॥ १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीवस्तुपालसचिवस्तुतिनित्यरक्तान्, पुंसस्तथाऽन्यजदकिञ्चनता विरक्ता ।
मन्दैव दैववचसाऽपि यथा प्रयाति, न प्रातिवेश्मिकनिकेतमुखेऽपि तेषाम् ॥ २

श्रीवस्तुपालाभिधमन्त्रिभर्तु-र्भूरब्दलेखेव तमालनीला ।
अभ्युल्लसन्ती जलराशिसीम्नि, रिपुप्रतापानलशान्तयेऽभूत् ॥ ३

एवं प्रबन्धमयमुद्धुरवादिवृन्द-वक्त्रारविन्दरजनीरमणोऽरिसिंहः ।
श्रीवस्तुपालचरितामृतसिन्धुवीचि-संवादवदूकमुचितं रचयाञ्चकार ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये चौलुक्यान्वयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

वीरधवलवंशवर्णनम्

अथादर्शि निशाशेषे, कृशाशेषविभूतिना । स्वप्ने कदापि भूपेन, कोऽपि श्रीभासुरः सुरः ॥ १
धात्र्या धर्त्तुं न शक्योऽय-मित्यङ्घ्रितलमीयुषः । वासुकेः फणवद् बिभ्र-न्नखरत्नजुषोऽङ्गुलीः ॥ २
हारान्तपद्मरागस्य, प्रभारागमिवाद्भुतम् । अधः परिदधद् वासः, कान्तादक्कोणशोणरुक् ॥ ३
कराग्ररोपणान्नीतै-रसमानैः समानताम् । लज्जितानूर्मिकारत्नै-र्नखान् दधदधोमुखान् ॥ ४
सेवकेषु दृढद्वेषिजये(यं) दातुमिवाऽऽवहन् । सुरचापचयं दोर्भ्यां, रत्नकङ्कणकान्तिजम् ॥ ५
प्रज्वलन्मणिकेयूर-प्रभापूरच्छलादयम् । भुजोष्मार्चिष्मदुत्तालज्वालाजालमुदञ्चयन् ॥ ६
लावण्यामृतपूर्णास्य-स्यन्दिबिन्दुकदम्बवत् । कलयन्नुरसि व्यक्तं, हारमुक्ताकलापकम् ॥ ७
हृद्वर्तिनः प्रसादस्य, प्रासादस्याद्भुतश्रियाम् । वैजयन्तीमिवाबिभ्र-दास्ये शुभ्रां स्मितद्युतिम् ॥ ८
कपोलयोरिवामान्तीः, कान्तीरावर्त्य पिण्डिताः । दधानः कर्णयोः स्वर्ण-कर्णिकायुगलच्छलात् ॥ ९
परितः स्फुरितज्योति-र्जटापटलपेशलम् । मौलौ नीलमणिं बिभ्रत्, केशवल्ल्यादिकन्दवत् ॥ १०
विहरच्चिकुरज्योति-र्झल्कारोर्मिकोमलाः । दधद्धम्मिल्लमाल्यान्त-र्भ्रान्तभ्रमरधोरणीः ॥ ११
अथ पृथ्वीपतिं प्रीति-लताकन्दमिवाऽऽत्मनः । वचनामृतवीचीभि-र्देवोऽसावित्यसिञ्चत ॥ १२
राजा कुमारपालो-ऽर्हद्धर्मासस्वर्गवैभवः । प्राप्तः पितामहस्तेऽहं, स्नेहं दुस्थे दधत् त्वयि ॥ १३
सदर्पमर्पयिष्यामि, तवाऽहं राज्यवाहकम् । वत्स ! विद्योत्स्यसे तेन, पवनेनेव पावकः ॥ १४
चुलुक्यकुलकान्तार-गजः श्रीधवलाङ्गजः । रिपुसर्पसुवर्णोऽभू-दर्णोराजमहीभुजः ॥ १५
यद्भयप्रभवस्वेद-पयःपरिचयैरिव । राज्यश्रीलिपयो लुप्ता, भालेषु प्रतिभूभृताम् ॥ १६
युधि व्यभासि यस्यासि-र्जयश्रीनाटिकानटः । पारिपार्श्वकवत् पार्श्व-वर्तिना समवर्तिना ॥ १७
मयाऽसौ विक्रमक्रीत-मनसा घनसाहसः । अकारि कारणं श्रीणां, भीमपल्लीपुरप्रभुः ॥ १८

दुष्टामात्यनिषिद्धस्य, येनाकल्पि बलीयसा । राज्यं ते मत्प्रसादाना-मनृणीकारकारणम् ॥ १९

सुतस्तस्याऽस्ति **लावण्य-प्रसादो** युधि यद्भुजः । असिं जिह्वामिवाकृष्य, रिपुग्रासाय सर्पति ॥ २०

युद्धमार्गेषु यस्याऽसिः, प्रतापप्रसरोष्मलः । अतीवारियशोवारि, पायं पायं न निर्ववौ ॥ २१

प्रतापतापिता यस्य, निमज्ज्यासिजले द्विषः । भीताः शीतादिवासेदुः, सद्यश्चण्डांशुमण्डलम् ॥ २२

सर्वेश्वरममुं कुर्व-न्नुर्वीमण्डलमण्डनम् । भविष्यसि श्रियो भर्त्ता, सुखाम्भोधिचतुर्भुजः ॥ २३

अस्याऽस्ति च सुतो **वीर-धवलः** प्रधनाय यः । भार्गवस्य पुनः क्षत्र-क्षयसन्धां समीहते ॥ २४

भ्रुवमारोपितां यस्य, युधि वीक्ष्याधिकश्रियम् । भुवि भ्रष्टं द्विषां चापैः, सज्जितैरपि लज्जितैः ॥ २५

यं विलोक्यातुलं विश्वे, दानेन च बलेन च । पश्यत्युपेन्द्रमिन्द्रोऽपि, श्वभ्रोत्थितबलिभ्रमात् ॥ २६

रिपुभूमिशिरोरत्नी-भूतक्रमनखत्विषे । दत्त्वाऽस्मै दोष्मते यौव-राज्यं राज्यं चिरं कुरु ॥ २७

किञ्च स्वःसीम्नि येनाह-मनाहतगतिः कृतः । तं कथञ्चित् कलौ जैनं, धर्मं मज्जन्तमुद्धर ॥ २८

इति श्रुत्वा नृपः स्मित्वा, लग्नस्तत्पादपद्मयोः । ग्रहीतुमिव पाणिभ्यां, पद्मवासामिव श्रियम् ॥ २९

प्रसादसादरस्तस्य, मूर्ध्नि देवोऽप्यधात् करम् । कमलं कमलागेह-मिव स्नेहवशंवदः ॥ ३०

प्रातस्तूर्यस्वने सूर्यो-दयशंसिनि भूभुजः । निद्रा नेत्राब्जमुद्राकृ-दथ रात्रिरिवाव्रजत् ॥ ३१

अथ विस्मितदृग्दृश्वा, महीपो दीपदीधितिः । साक्षाद् देवः किलास्तीति, मङ्क्षु पर्यङ्कमत्यजत् ॥ ३२

अथानणुमणिस्तम्भ-प्रभविष्णुप्रभां सभाम् । अभजद् भूभुजङ्गोऽयं कृतप्राभातिकक्रियः ॥ ३३

ततः क्षितिपतेरस्य, प्रतापेनेव निर्जितः । आगत्य प्रातरात्मानं, भानुर्भूशमदीदृशत् ॥ ३४

स्फुरन्तः स्वप्रतापाग्नि-स्फुलिङ्गा इव संसदि । मण्डलेशा व्यलोक्यन्त, सेवावन्तः क्षितिक्षितः ॥ ३५

राजा दृग्भ्यां सुधाकुम्भ-सदृग्भ्यामभ्यषिञ्चत । देवादिष्टौ पितृसुतौ, सर्वेश्वरपदे हृदा ॥ ३६

अभाषिष्ट सभाशिष्ट-समक्षमथ पार्थिवः । प्रसादसान्द्र**लावण्य-प्रसादा**य मुदा वचः ॥ ३७

अस्मिन् कृतोऽस्मि राज्ये त्व-त्पित्रा वित्रासितद्विषा ।
विध्यायन्तीमिमां भूति-मुद्भावयतु तद् भवान् ॥ ३८

गृहाण विग्रहोदग्र-सर्वेश्वरपदं मम । युवराजोऽस्तु मे **वीर-धवलो** धवलो गुणैः ॥ ३९

प्रार्थितौ प्रार्थनीयेऽर्थे, प्रार्थनीयेन भूभृता । देवादेशः प्रमाणं नौ, तावूचतुरिदं मुदा ॥ ४०

पाणी संपुटय्य रुन्धानो, लोलां भृङ्गीमिव श्रियम् । पुनर्व्यजिज्ञपद् **वीर-धवलो** धरणीधवम् ॥ ४१

न मे स्वामिन्नमात्योऽस्ति, यं विना विक्रमी हरिः ।
अब्दे शब्दोद्धुरे कुम्भि-भ्रान्त्योत्प्लुत्य पतत्यधः ॥ ४२

दक्षः शस्त्रे च शास्त्रे च, धने च प्रधने च यः । तममात्यं ममात्यन्त-गुणप्रगुणमर्पय ॥ ४३

---

१ क-ग प्रतापेन विनिर्जितः ॥ २ कपुस्तके–क्षितिक्षताः । ख–गपुस्तके–क्षितिक्षिताः ॥ ३ कपुस्तके–सुधाकुण्ड° ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति लक्ष्मीलतोल्लास-सुधया तद्गिरा चिरम् । प्रीतः किञ्चिद् विचिन्त्यान्त-र्जगाद जगतीपतिः ॥ ४४

वस्तुपालवंशवर्णनम्

पुरा **प्राग्वाट**वंशाग्र-जाग्रत्कीर्तिलताततिः । राज्येऽस्मिन् महसा, **चण्डश्चण्डपः** सचिवोऽभवत् ॥ ४५

क्षीरोदसोदरो यस्य, यशोराशिर्निशाकरम् । भ्रातृव्योऽयमिति स्वर्गि-भुक्तिभीतमगोपयत् ॥ ४६

तद्भूश्च**ण्डप्रसादा**ख्यो, दाक्षदाक्षिण्यभूरभूत् । गृह्णन्ति यद्गुणान् दक्षा, लक्ष्यन्ते न च तेषु ते ॥ ४७

दासः कैलासभूमीभृद्, भुजिष्यो भुजगेश्वरः । किङ्करः शङ्करोत्तंस-शशी यद्यशसामभूत् ॥ ४८

कीर्तिकल्लोलितव्योमा, **सोमा**ख्यस्तत्सूतोऽजनि ।
न्यतिष्ठन्नर्थिनो नार्था, यस्मिन् यच्छति वाञ्छितम् ॥ ४९

अस्याऽऽसीत् कोऽपि न स्वामी, **सिद्धा**धिपतिना विना ।
विना जिनाधिपेनाभूद्, यस्य देवोऽपि कोऽपि नो ॥ ५०

तद्भूः कीर्तिभरैर**श्व-राजो** विश्वमराजयत् । तीर्थयात्रा व्यधात् सप्त, यः सप्तनरकच्छिदे ॥ ५१

त्रैलोक्यादुत्तमं वीक्ष्य, यं माता-पितृभक्तिभिः । भक्तये स्पृहयेन्माता-पितृभ्यामात्मभूरपि ॥ ५२

आसीत् **कुमारदेवी**ति, प्रीतिभूरस्य वल्लभा । या जैनधर्मधुर्याऽपि, गौरीवल्लभभक्तिभाक् ॥ ५३

तयोस्त्रयोऽभवन् पुत्रा, रिपुत्रासकरौजसः । यत्कीर्त्तिभिर्द्वितीयेव, त्रिस्रोताः समजन्यत ॥ ५४

प्रथमः प्रथितस्तेषां, **मल्लदेवो** धियांनिधिः । स्वाराज्ये गुरुबुद्धीनां स्वराज्यमतनिष्ट यः ॥ ५५

धीमानास्तेऽनुजस्तस्य, **वस्तुपालः** कलास्पदम् । अनुजेनान्वहं **तेजःपाले**नाराधितक्रमः ॥ ५६

इमौ ग्रन्थाब्धिमन्थानौ पन्थानौ श्रीसमागमे । तुभ्यं समर्पयिष्यामि, मन्त्रिणौ तौ तु मित्रयोः ॥ ५७

इत्युक्त्वा मुदिते **वीर-धवले**ऽसौ धराधवः । आहूय तौ स्वयं प्राह, नमन्मौली सहोदरौ ॥ ५८

युवां नरेन्द्रव्यापार-पारावारैकपारगौ । कुरुतां मन्त्रितां **वीर-धवल**स्य मदाकृतेः ॥ ५९

युवाभ्यामेव नेत्राभ्यां, चक्षुष्मानस्य विक्रमः । आलोक्यालोक्य निःशेषा-नपि द्विष्टान् पिनष्टु मे ॥ ६०

किञ्च प्रपञ्चयतमेव युवां जिनेन्द्र-धर्मे जिनेन्द्रपदपद्मयुगद्विरेफौ ।
स्वप्नावलोकितनृपाल**कुमारपाल**-सन्दिष्टमिष्टतममेतदवश्यकार्यम् ॥ ६१

आस्थानमण्डपशिरःप्रतिशब्ददम्भात्, केनाप्यदृष्टमरुताऽनुमतो हि तेन ।
शिक्षामिति क्षितिपतिः स तदा प्रदाय, वीराय **वीरधवलाय** मुदाऽऽर्पयत् तौ ॥ ६२

किञ्च—

कल्पान्तेषु यशोभरे तव हरिर्दुग्धाब्धिवासस्मयं,
मार्त्तण्डस्त्रिदिवापगारयपयःस्नानोत्सवं लप्स्यते ।
मिथ्योक्तिः कवितेति नात्र वचसि श्रद्धाऽस्ति चेत् तच्चिरं,
नन्द श्रीस्तुत **वस्तुपाल** ! भवतु प्रत्यक्षमेतत् तव ॥ १

१ ख-ग-पुस्तके-दाक्ष्यदां° ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शस्त्रविस्तृतिपरः परं परो, रक्षति क्षितिमिमामरातितः ।
वस्तुपालसचिवस्तु पालय-त्येष देव-गुरुवन्मनीषया ॥ २
संग्रामसिंहकुयशोभरभृङ्गभङ्गि-भास्वद्यशःकुसुमसौरभसम्भृताशः ।
वाग्वैभवेन किल कोकिलकोमलेन, शश्वद् वसन्त इव भासि **वसन्तपाल !** ॥ ३
श्री**वस्तुपाल**स्य यशस्तरङ्ग-पूरैः परीतं परितोऽ**रिसिंहः** ।
व्यधत्त दुग्धाब्धिमिव प्रबन्ध-ममुं समुद्भूतरसप्रशस्यम् ॥ ४
प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मि-**न्नरिसिंह**विनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्य**मरपण्डितः** ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये मन्त्रिप्रकाशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

वस्तुपालसचिवेन्द्रशेमुषी-सम्मुखः पुरुषपौरुषोदधिः ।
मेदिनीमजयदब्धिमेखला-मेष **वीरधवलो**ऽथ दुर्द्धरः ॥ १
तन्महामतिरकम्पसङ्कटे, कण्टकालिरहिते हितः सताम् ।
न्यायवर्त्मनि समे समन्ततः, सम्मदेन समचीचरत् प्रजाः ॥ २
कस्यचिद्धरणिमण्डलच्युते, कुण्डलेऽपि मणिराजिराजिते ।
शङ्कयेव भृशमाशुशुक्षणेः, कोऽपि न क्षिपति पाणिपङ्कजम् ॥ ३
ऋद्धिवृद्धिविशदेषु सर्वदा, देशवासिषु जनेषु मानिषु ।
दीयमानमपि नाददीत यत्, कोऽपि तस्करकथा ततः कुतः ? ॥ ४
सर्वथाऽप्यसति याचके क्वचित्, कोऽपि किञ्चिदपि न प्रयच्छति ।
कौतुकात् कविभिरेव वर्ण्यते, दानवानिति महाधनो जनः ॥ ५
एतदाननविलासि पालय-त्याशु **वीरधवला**दपि द्विषः ।
आप्तगौरवमिति च्युतं क्षिते-र्नैव कश्चिदुदपाटयत् तृणम् ॥ ६
नित्यचैत्यकुतुकावलोकन-व्यग्रलोकमणिभूषणांशुभिः ।
जर्जरे रजनितामसेऽफलत्, पांशुलासु न मनोरथद्रुमः ॥ ७
इत्यवेक्ष्य मुदितं पदे पदे, लोकमुल्वणविवेकमेकदा ।
वस्तुपालसचिवं व्यजिज्ञपद्, व्यक्तभक्तिभरभासुरोऽनुजः ॥ ८
बुद्धिरेव तव देव ! दासता-मानिनाय विषमानपि द्विषः ।
मण्डनाय नृपमण्डलश्रिया-मेव **वीरधवल**स्य वाहिनी ॥ ९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगपात्रवदपात्रमप्यलं, प्रीणयत्यनुदिनं धनैस्त्वयि ।
तस्करेऽपि भृशमर्थितां गते, शेरते पुरि सुखेन रक्षकाः ॥ १०
तावकीनयशसैव शाश्वतीं, पूर्णिमां शशिसमेन तन्वता ।
उज्ज्वले जगति पांशुलाकुलै-राकुलैरहह ! साधुता दधे ॥ ११
त्वन्महोभिरहिमांशुकोटिवद्, विप्रकीर्णनयनेन राहुणा ।
तिग्मभानुरनुपप्लुतोऽभवत्, सीम्नि वर्षति विशेषहर्षितः ॥ १२
इत्थमद्भुतविभूतिभूरभूद्, देव ! देशजनता नयात् तव ।
जैनधर्मपरिवर्धनोचितं, तन्महीरमणशासनं स्मर ॥ १३
बान्धवस्य सुरसिन्धुबन्धुरां, भारतीमिति निशम्य सम्मदी ।
आह किञ्चन विचिन्त्य चातुरी-रोचितः सचिवचक्रशेखरः ॥ १४
आत्मगोत्रगुरवः पुराऽभवन्, विश्रुता भुवि **महेन्द्रसूरयः** ।
यैः **सिताम्बरवरैः** सिताम्बरं, निर्ममे जगदमेयकीर्तिभिः ॥ १५
यैरजीयत जगत्त्रयीजयी, मन्मथोऽयमिदमद्भुतं न नः ।
यद्भवाऽपि यशसा यतो जितः, कामजिन्मुकुटकुट्टिमः शशी ॥ १६
शान्तिसूरिरथ तत्पदश्रियो-ऽलङ्कृतिः कृतिषु शेखरोऽभवत् ।
उद्गृणन्ति मरुतोऽपि यद्गुणान्, विस्मृतामृतरसा रसाधिकम् ॥ १७
यं सुदर्शनधरं हरिभ्रमा-न्नास्पृशद् गुरुरिति स्वयं रतिः ।
कान्तसोमकलमीशशङ्कया, यं जयीति मदनोऽपि नैक्षत ॥ १८
तत्पदेऽतिविदितप्रथावथा-ऽऽ**नन्दसूर्यमरसूरि**संज्ञकौ ।
वासमन्दिरविलासमन्दिरे, श्रेयसां मुनिविभू बभूवतुः ॥ १९
शैशवेऽपि मदमत्तवादविद्वारवारणनिवारणक्षमौ ।
यौ जगाद **जयसिंह**भूपति-र्व्याघ्र-सिंहशिशुकाविति स्वयम् ॥ २०
जल्पतोर्जगति निर्भरं ययो-र्यद्वदत्वमगमन् विवादिनः ।
खं यदि स्फुटरवानुवादतः, स्वस्य शब्दगुणतामदर्शयत् ॥ २१
तत्पदाम्बुरुहषट्पदाः पदं, भेजिरेऽथ **हरिभद्रसूरयः** ।
यैर्विलुप्य कुसुमानि कीर्त्तिभि-र्लीलयैव कुसुमायुधो जितः ॥ २२
संयमप्रभृतिभिस्तथा गुणै-र्यन्मनःपदमपूरि भूरिभिः ।
न प्रवेष्टुमिह मन्मथो यथा-ऽनङ्गतामपि गतः क्षमोऽभवत् ॥ २३
सन्ति सम्प्रति तदीयशासने, सूरयो **विजयसेनसूरयः** ।
उज्झितो जगति यैर्महास्रव-न्मन्मथोऽपि भवभेदकोऽभवत् ॥ २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वतोमुखतपोहुताशनै-र्यैर्हुतः स्मर इति क्व विस्मयः ? ।
निर्जितः पुरजिता पुरा यतो, नेत्रमात्रतुलिताग्निनाऽपि सः ॥ २५
गम्यते तपनरम्यतेजस-स्तस्य वन्दनविधित्सया गुरोः ।
देशनां समधिगम्य तन्मुखाद्, धर्मकर्मणि निधीयते मनः ॥ २६
इत्युदीर्य मतिभासुरः पुर-स्कृत्य कृत्यविदसौ सहोदरम् ।
कम्पयन् कलियुगं मनोरथै-राससाद वसतिं मुनीशितुः ॥ २७
द्वारमध्यमविशन्निषेधिका-मुद्गिरन् गुरुमवेक्ष्य तत्पुरः ।
बाष्परुद्धनयनः पदे पदे, सम्मदेन घनगद्गदोऽस्खलत् ॥ २८
दुःषमाविषमतापतापितां, वीजयन्निव धरामसौ चिरात् ।
अञ्चलेन करचञ्चलेन त-च्चक्रिवान् गुरुनमस्कृतिं कृती ॥ २९
दन्तदीप्तिपटलच्छलोच्छल-न्मूर्त्तिमत्सुकृतवर्मितामिव ।
विच्चुटद्दुरितराशिराशिषं, निर्ममे तदनु निर्ममेश्वरः ॥ ३०
सोऽभ्युदञ्च्य कथमप्यथ क्षिते-र्भक्तिभारनमितं शिरश्चिरात् ।
अग्रतो मुनिविभोर्व्यभूषयद्, युक्तमासनममुक्तवासनः ॥ ३१
आकलय्य मुखवस्त्रिकां मुख-द्वारि विस्फुरितदन्तदीप्तिवत् ।
देशनां सचिवभर्तुरग्रतः कर्तुमारभत सूरिशेखरः ॥ ३२
वीतरागमतधर्मकारिणः, साधुवृत्तगुरुभक्तिभासुराः ।
श्रावकाः कतिचिदाप्तभावना-दान-शील-तपसो भवन्ति चेत् ॥ ३३
दान-शील-तपसां विजित्वरी, भावनैव भवनाशिनी भवेत् ।
तां पुनर्विजयते प्रभावना, सा तु सम्पदि सुखेन साध्यते ॥ ३४
अस्थिराः करभिका इव श्रियः, पातयन्ति नरकावटे नरम् ।
कञ्चिदेव निपुणं नियोजकं, लङ्घयन्ति विकटां भवाटवीम् ॥ ३५
श्रावकत्वममलं कुलं कला-चक्रवालमपि कश्चिदुद्वहन् ।
सम्पदा ललनयेव लोलया, पीतमद्य इव मोह्यते जनः ॥ ३६
श्रीलता शुचितरेषु रोपिता, स्थानकेषु समये यथाविधि ।
पुष्पिताऽद्भुततरैर्यशोभरै-राशु पुण्यफलहेतवे भवेत् ॥ ३७
न स्थिराः क्वचन यान्ति खण्डशः, सम्मिलन्ति रसवत् कथञ्चन ।
सम्पदः प्रकटितप्रभावनाः, कस्यचिद् यदि भवन्ति सिद्धये ॥ ३८
पावयन्ति परिक्लृप्तभावना-दान-शील-तपसः स्वमेव तत् ।
विश्वशासनविकाशदीपिकां, व्यातनोति विरलः प्रभावनाम् ॥ ३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जल्पितानि बहुशः प्रभावना-कारणानि मुनिभिः पुरातनैः ।
उत्सवो भवति तीर्थयात्रया, तेषु शेखरमणिस्तु निस्तुषः ॥ ४०

सिद्धलोक इव सङ्घतां गतः, पूज्यते ननु जनो जिनैरपि ।
धन्य एव स तु तीर्थयात्रया, कोऽपि सङ्घपतितां बिभर्त्ति यः ॥ ४१

दिक्पुरन्ध्रिकुतुकाय कस्यचिद्, रौप्यदर्पणनिभो यशश्चयः ।
सङ्घसङ्घटितरेणुमार्जना-दिन्दुधामधवलो विलोक्यते ॥ ४२

सङ्घभर्तुरधिरोपितस्तथा, वर्द्धते सपदि पुण्यपादपः ।
दर्शयत्यमृतसन्निभं यथा, विष्टपत्रितयमौलिगं फलम् ॥ ४३

नागेन्द्रगच्छमुकुटस्य मुनेरनून-माकर्ण्य कर्ण्यमिति मन्त्रिपतिर्विचारम् ।
नत्वा स्वधामनि जगाम जिनेन्द्रयात्रा-निर्माणनिर्मलमनोऽतिमनोरथश्रीः ॥ ४४

किञ्च—

वितन्वाते विश्वाङ्गणसदसि यावत् तव यशः-
प्रतापाभ्यामभ्युल्लसितरुचिवादं विधु-रवी ।
भज स्थैर्यं **सोमा**न्वयतिलक ! तावत् क सुकृतैः,
कृतैर्लभ्यः सभ्यस्त्वमिह गुण-दोषैकनिकषः ? ॥ १

ईदृक् कश्चिद् विपश्चिज्जनमनसि चमत्कारकारी पुराऽपि,
क्वापि प्रापि प्रबुद्धे वसुमति सुमतिर्**वस्तुपाल**स्य तुल्यः ।
येन क्षीरार्णवार्णश्चयसिचयजुषः सिद्धसिन्धूत्तरीय-
श्रीविस्तारोत्तराया व्यरचि शुभरुचिः कीर्त्तिभिः कञ्चुकस्ते ॥ २

सच्चक्रनन्दकपुरोगदयाद्भुतश्री-स्त्वं **वस्तुपाल** ! पुरुषोत्तम ! जिष्णुरेव ।
तद् दूयते तु हृदि मेऽन्वहमेव शङ्खो, यत् **सिन्धुराज**तनुभूर्न करे गृहीतः ॥ ३

कविर्न को निस्तुष**वस्तुपाल**-यशःसुधाविद्गुरसं रसज्ञः ।
प्रबन्धमास्वादयते**ऽरिसिंह**-मुखारविन्दैकमरन्दमेनम् ? ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्**नरिसिंह**विनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्य**मरपण्डितः** ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये धर्मोपदेशनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

---

१ ख-ग-°धवलोऽवलो° ॥ २ ख-°ल्लसिरुचिविवादं ॥

स तीर्थयात्रासु मनोमनोरथं प्रकाशयन् सम्मदमेदुरोद्यमः ।
पुरे पुरे श्राद्धजनाय नायको, विवेकभाजां लिखितान्यलीलिखत् ॥ १
अवाहनानामपि वाहनावली-मशम्बलानामपि शम्बलं बली ।
अकिङ्कराणामपि किङ्करान् कृती, वितीर्य सङ्घे समवीवहद् बहून् ॥ २
अदोषधीर्मन्त्रिपतिस्तदौषधी-रमीमिलद् विश्वरुजां विजित्वरीः ।
बभूव ताभिर्भृशमौषधीपतिः, स कौमुदीकोमलकीर्त्तिकारणम् ॥ ३
वृथैव वैद्याननवद्यवैभवान्, समं स मन्त्री जगृहे महेच्छया ।
प्रभूष्णुसङ्घक्रमरेणुराशिजं, तदाऽखिलव्याधिहरं तमोऽपि यत् ॥ ४
न यद्यपि प्रौढवृषप्रभावतो, भविष्यति स्पृष्टमनोभिदा क्वचित् ।
परोपकाराय तथाऽप्ययं कृती, युगादिसर्वज्ञकृताग्रहोऽभवत् ॥ ५
अथासितीव्रव्रतनिर्जितान्तर-द्विषो भवाम्भोनिधिकुम्भसंभवान् ।
मठेषु गत्वा स्वयमद्भुतादरः, समं शमीन्द्रान् समवाहयत् कृती ॥ ६
सतां पतिः सङ्घपतित्वरोपणा-भिषेकमासाद्य गुरोः कराम्बुजात् ।
शुभे मुहूर्त्तेऽद्भुतबाहवाहिनी-वृतोऽचलच्चन्दनचर्चिताकृतिः ॥ ७
ततश्चतुर्विंशतितीर्थकृत्कला-कलादितीर्थङ्करदेवतालयः ।
चचाल नृत्यादिविनोदतत्परः, प्रजामुदश्रुस्नपितेन वर्त्मना ॥ ८
पिबन् पयः स्वःसरितो वियद्वने, शशाङ्ककान्तीस्तृणुते तृणोपमाः ।
विशृङ्खलो यस्य यशःकिशोरकः, समं त्रिगोत्रैकगुरुस्ततोऽचलत् ॥ ९
अथानुचेलुर्नरचन्द्रसूरयो, लसत्त्रसस्तोमविलोकनच्छलात् ।
दयैव सिञ्चन्त इवाद्भुतक्रमां, प्रयाति सङ्घे वसुधां सुधान्तया ॥ १०
अथाचलन् वायटगच्छवत्सलाः, कलास्पदं श्रीजिनदत्तसूरयः ।
निराकृतश्रीषु न येषु मन्मथः, चकार केलिं जननीविरोधतः ॥ ११
भवाभिभूतेन मनोभुवा भया-दनीक्षितैः क्लृप्तभवाभिभूतिभिः ।
अचालि सण्डेरकगच्छसूरिभिः, प्रशान्तसूरैरथ शान्तिसूरिभिः ॥ १२
शरीरभासैव पराभवं स्मरः, स्मरन्ननश्यत् किल यस्य दूरतः ।
स वर्द्धमानाभिधसूरिशेखर-स्ततोऽचलद् गल्लकलोकभास्करः ॥ १३
सहस्रशीर्षोरगकल्पकीर्त्तयः सहस्रधामप्रतिमानतेजसः ।
सहस्रनेत्रप्रमुखामरस्तुताः, सहस्रशोऽन्येऽपि च सूरयोऽचलन् ॥ १४
चतुर्दिगापूरणभूरिनिःस्वन-श्चतुःसमुद्रान्तमहीतलागतः ।
ततश्चतुर्थव्रतनिश्चलोऽचल-चतुर्विधः सङ्घजनो यथाविधि ॥ १५

वितन्वतः **कासहृदा**ख्यपत्तने, महोत्सवं **नाभितनूजसद्म**नि ।
सहायतां प्रत्यश्रृणोन्महामते-रमुष्य दृग्वर्त्मनि देवताऽ**म्बिका** ॥ १६

अथास्य सङ्घस्य विसर्पतोऽग्रतः, शताङ्गचक्रोचितचीत्कृतस्वनः ।
नदन्महोक्षध्वनिवर्मितोऽपि सन्, हयालिहेषाभिरलाभि लाघवम् ॥ १७

पवित्रमेतत् तिलकाय नित्यशः, परस्परस्पर्द्धिभिरूर्ध्वमुत्सुकैः ।
तदा सदारैः समवापि दैवतैः, मुदैव तैः सङ्घविहारजं रजः ॥ १८

अभूत् तदा सङ्घपदाभिषङ्गत-स्तथा कथञ्चिद् विरजस्तमा मही ।
यथाधिरूढाऽपि शिरस्यहीशितु-श्चकार नो भारमुदारविग्रहा ॥ १९

विभेद्य लोभेन धवान् धवान्तरै-र्यया प्रपेदे प्रतिघातपातकम् ।
पवित्रिता सङ्घपदैर्दिवं ययौ, मही स्वदेहेन रजोमयेन सा ॥ २०

महानयं सङ्घजनोऽचलत् कथं, धरिष्यथ क्ष्मामिति जल्पितुं तदा ।
गतैः समीपं किल रेणुभिः ककुप्-करेणुभिर्मङ्क्षु मदो निराकृतः ॥ २१

रजस्तदा विस्तृतसङ्घसम्भवं, नभोनदीतीरगनीरगर्भितम् ।
इहापि गङ्गामृदलाभि दुर्लभे-त्यकर्षि सप्तर्षिभिराशु हर्षिभिः ॥ २२

द्विजेश्वरश्रीहतिपातकादिव, द्रुतं दिवः पातिभिरर्कभानुभिः ।
पवित्रसङ्घक्रमरेणुसङ्गमा-दसङ्गमूर्ध्वैव गतिः स्म तन्यते ॥ २३

विसर्पता सङ्घजनेन मेदिनी, पवित्रितौ प्रत्युपकारिणी ततः ।
उदस्य धूलीस्तपनातपं व्यधाद्, व्यधाच्च तूर्णं सुतरास्तरङ्गिणीः ॥ २४

चलाचलायां भुवि सङ्घसङ्गमात्, तदा तरन्त्यामिव धर्मवारिधौ ।
जगद्गुरोऽस्माकमवातरत्तरा-मिति स्म नृत्यन्ति मुदा महीभृतः ॥ २५

अथाघशल्यानि निरासितुं रया-द्नेन सङ्घेन परोपकारिणा ।
शताङ्गचक्रप्रधिलीलयाऽवनि-र्विदार्यमाणा सरवं व्यकम्पत ॥ २६

अमुष्य सङ्घस्य विलङ्घनक्रियां, वितन्वतोऽपि क्रमशौचकर्मठः ।
स्फुटस्फुरत्फेननिभेन भेजिवान्, शुचीनि पुण्यानि तरङ्गिणीगणः ॥ २७

क्रमक्रमस्थापितवारि-शर्करा-करम्ब-वालुङ्कविभूषितप्रपः ।
स्थितं गृहक्रोड इव प्रमोदिनं, निनाय मन्त्री जनमित्थमध्वनि ॥ २८

सृजन् जनः पूजनमुत्सवोत्सुकः, पुरे पुरे तीर्थकृतां कृताञ्जलिः ।
अलं व्यलङ्घिष्ट महीं महीयसी-मसीमसम्भावितभावनाद्भुतः ॥ २९

समीपसङ्केतनिकेतनं शिव-श्रियो वियन्मानसमुन्नतं ततः ।
पुरः पुरं धर्मनृपस्य पश्यति, स्मितः स्म **शत्रुञ्जयपर्वतं** जनः ॥ ३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगण्यपुण्यैर्भवसिन्धुपारभू-रभूदयं लोचनगोचरो गिरिः ।
इति स्मेयस्मेरहृदो विदस्तदा, ससम्मदाश्चक्रुरहो ! महोत्सवम् ॥ ३१
गतोऽग्रतोऽस्मिन् दुरितैरनाविलो, विलोक्य **नाभेयनिकेत**केतनम् ।
जनस्तदा शर्मरसोर्मिविक्लवो, मदान्न किं किं रचयाञ्चकार सः ? ॥ ३२
ननर्त्त कश्चित् पृथुसम्मदस्तदा, सलीललोलायितपाणिपल्लवः ।
प्रतिप्रतीकं परितः कुतूहला-दलं यथाऽऽलोक्यत पुण्यसम्पदा ॥ ३३
बहूत्पतत्पादयुगस्तदाऽपरो, ननर्त्त दूरप्रसरत्करच्छदः ।
विधातुमुड्डीय नगाधिरोहणं, मनोरथी पत्त्रथीभवन्निव ॥ ३४
भवभ्रमिश्रान्ततुरः शिरोधरा-ऽधिरोपितं पापभरं त्यजन्निव ।
इलामिलन्मौलिरमन्दसम्मदो, ननाम विश्रामविधित्सया परः ॥ ३५
विलोकयन् कोऽपि वृषध्वजध्वजं, मुहुर्मुहुर्मङ्क्षु नमन्नमन्दधीः ।
उदञ्चित-न्यञ्चितमौलिलीलया, रराज मुक्तिश्रियमाह्वयन्निव ॥ ३६
अमुत्र **शत्रुञ्जयशैल**सन्निधौ, भवार्णवस्येव तटे तदा परः ।
निरीयितुं पातकजातकर्दमा-ल्लुलोठ सर्वाङ्गमुदारधीर्मुदा ॥ ३७
समुद्भवद्भावरसादचेतन-श्चिराय नृत्यादिविवेकवर्जितः ।
परः शिलापुत्रसमोऽपि बाष्पवा-नमोचि रिष्टैरपि रिष्टशङ्कितैः ॥ ३८
इहाथ पाथस्तृणराजिराजिते, जितेन्द्रियो मन्त्रिपतिर्महीतले ।
श्रमापनोदार्थमदापयत् तदा, निवासमासन्नममुष्य भूभृतः ॥ ३९
अथाव्रजत् खिन्नजलप्रमोदिनो, दिनोपतापे सचिवः स किङ्करान् ।
मरुत्वरान् प्रैषयदेष तत्क्षणं, शिखिच्छदच्छत्रविडम्बिताम्बुदान् ॥ ४०
सुवंशसंयोजितरूपशोभिता, विचित्रिता धातुरसेन सर्वतः ।
पदे पदे पर्वतपादसोदरा, वितेनिरे पीवरचीवरालयाः ॥ ४१
अनांसि धर्मक्षितिपस्य वप्रवत्, पदे पदे मण्डलितानि रेजिरे ।
तृणं द्विषत्पापमिवोदमूलयन्, यतो विनिस्सृत्य वृषा भटा इव ॥ ४२
गिरौ गतिं पश्यत नः कुतूहलात्, कथं वृथा मुञ्चत भूतले समे ? ।
इतीव चाटूक्तिकृतस्तृणं मुखे, वृषा व्यधुर्बभ्रति सारथौ पुरः ॥ ४३
नैयेन संङ्घस्य रसातलं यया, कथं समाकृष्यत साऽपि भिन्महे (?) ।
नवीनचुल्लीविवरापदेशतः, खनन्ति भूखण्डमिति स्म किङ्कराः ॥ ४४[1]

---

१ क-ख पुस्तके ४४ तमं काव्यं नास्ति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तनृत्ताः प्रचलोर्मिपाणिभिः, प्रणीतगीताः कमलास्थषट्पदैः ।
तदा व्यधुः स्वागतमागते जने, विदम्भमम्भःप्रसरेण सिन्धवः ॥ ४५
तदाऽन्नपाकाय विकाशितः शिखी, ज्वलन् बभौ सङ्घजने निवासिनि ।
भरानमद्भूमिभिदास्फुटस्फुर-त्फणीन्द्रचूडामणिरश्मिराशिवत् ॥ ४६
अथैष तीर्थङ्करदेवतालय-प्रक्लृप्तमध्यन्दिनपूजनो जनः ।
मुदा नमस्कृत्य गुरुक्रमद्वयं, प्रचक्रमे शाश्वतकृत्यकेलिषु ॥ ४७
अदायि दीनाय तदा धनं तथा, मनोरथातीतमनेन मन्त्रिणा ।
यथा परे निश्चयदायिनो जना, वनीपकानामपि चाटु चक्रिरे ॥ ४८
स्वयं स कस्मैचन मोदकादिकं, घृतादि कस्मैचन शुद्धवासनः ।
फलादि कस्मैचन साधवे ददत्, तदा विशश्राम न मन्त्रिशेखरः ॥ ४९
अकिञ्चनः कश्चन याचते क्वचित्, किमप्यहो ! शब्दमिति प्रदाप्य सः ।
चकार भोज्यादिकमात्मना कृती, तृतीययामक्षणपूरितेक्षणः ॥ ५०
अथ कृततनुकृत्यः कौतुकोत्तानचेता, जिनपदमनुसङ्घः क्लृप्तसङ्घट्टमागात् ।
इह महमहिमांशुर्द्रष्टुकामो निकामं, गगनगमनखिन्नः प्रत्यगद्रौ निषण्णः ॥ ५१

किञ्च—

पायं पायमहर्निशं रिपुयशःपीयूषपूरं भवान्,
कल्पायुः क्षितिकल्पवृक्ष ! भवताल्लक्ष्मीलतालिङ्गितः ।
श्री**सोमा**न्वयसोममौक्तिकमयैरेव प्रसूनैरिव,
त्वत्कीर्त्तिप्रकरैरपि त्रिभुवनं सौरभ्यमभ्यस्यतु ॥ १
मात्यमात्यवर ! नाम्बरे यशः, श्री**वसन्त** ! तव सन्ततस्मितम् ।
इत्यनन्यमहिमानमानशे, मानसाश्रयमहो ! महीयसाम् ॥ २
समुच्छ्रिताभिः खलु **वस्तुपाल**-प्रतापदीपाञ्जनमञ्जरीभिः ।
इहोपकण्ठस्थितिभाजि शङ्के, मालिन्यमुन्मीलितमुज्ज्वलेऽपि ॥ ३
श्री**वस्तुपाल**प्रथितप्रसादा-दासन् प्रमोदामृतवारयो याः ।
एतत्प्रबन्धच्छलतोऽ**रिसिंह**-स्ता एव मूर्त्ताः स्तबकीचकार ॥ ४
प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्न**रिसिंह**विनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्य**मरपण्डितः** ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये सङ्घप्रस्थानो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

१ ग-प्रफलो ॥ २ ग-समुत्थिता° ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनमहमहिमानं प्रत्यदीयन्त दूरा-देथ वलयितवृन्दं रासकाः श्राविकाभिः ।
तनुसदनविषण्णक्रूरकाकोलकाल-स्फुरितदुरितजालत्रासकृत्तारतालम् ॥ १
करकिशलयलीलालोलतालप्रणादो-ल्लसितलयविनोदानन्दनिर्मग्नचित्तः ।
जिनवदनविलोकव्यग्रदृग् भाविलोकः, प्रतिपदमभिरामं गीतमङ्गीचकार ॥ २
गतमदनमदानां भाविनामत्र भावा-न्तरितरसतरङ्गैरङ्ग ! चित्तं हरन्ती ।
लयविलुलितहारैरङ्गहारैर्मृदङ्ग-ध्वनिजनितविनोदं नर्तकी नृत्यति स्म ॥ ३
अशिथिलपदपातं प्रीतिपूर्णे जनेऽस्मिन्, नटति झटिति भेजे भूरियं भूरिकम्पम् ।
शिथिलककदम्बः प्रत्यगद्रेः पतित्वा, तदिव दिवसनाथः सिन्धुपाथस्यमज्जत् ॥ ४
पतितवति पतङ्गे रङ्गदुत्तुङ्गताप-व्यतिकरकृति सद्यः प्रीतिहृद्या इवाऽऽशाः ।
तुहिनमहसि कामं रन्तुमागन्तुकामे, खगकुलतुमुलेन भेजिरे कौतुकिन्यः ५
हरगलगरलाभं व्योम्नि काष्ठान्तराल-ज्वलदविरलसन्ध्यावह्निविध्यानहेतुः ।
शबलममलरत्नैरुत्पपातार्कतापा-ज्जलमिव जलराशेरन्धकारं सतारम् ॥ ६
विषमलिमिषमास्ये न्यस्य मूर्च्छामगच्छन्, परिमिलितदलालीचक्षुषः पद्मखण्डाः ।
प्रियसुहृदि गतेऽस्तं भास्वति ब्रह्मचर्य-व्रतमविरलशोकः कोकलोकश्च भेजे ॥ ७
स्वदिवसपरिवृत्तिज्ञानतः क्वापि यातः, प्रसरति रिपुरूपे ध्वान्तपूरेऽपि सूरः ।
अथ गुरुगिरिदुर्गान् प्राप्य भासस्तदीया, दिशि विदिशि बबन्धुर्बन्धुतामोषधीभिः ॥ ८
अतुहिनमहसेव स्वैरवैरप्ररोहा-दपगिरिगरीयःकुञ्जगुप्तेन मुक्ताः ।
अहह ! दहनदीप्ता दीपदम्भेन भेजु-र्दिशि तिमिरौघं भल्लयः शल्लयन्त्यः ॥ ९
प्रथमसमुदितेन्दुज्योतिपूर्णेयमुद्घा-टितविकटकपाटद्वारवत् पूर्वकाष्ठा ।
मुदमतनुत साक्षादन्धकारान्ध्यकारा-गृहकुहरगतस्यामुष्य विश्वस्य मुक्त्यै ॥ १०
द्युमणिमणिगणैर्यत्किञ्चिदप्यह्नि वह्नि-द्युतिततिभिरदाहि क्ष्मारुहादि क्षणेन ।
इह तदपि तदानीं जीव्यते स्म त्रियामा-रमणमणिसुधाभिः सर्वतः पर्वतेषु ॥ ११
अहनि दहनकीलाभैरवैः कैरविण्य-स्तरणिकिरणजालैर्मूर्च्छितातुच्छमूर्च्छाः ।
विधुरुचिमधुसेकैश्छेकलोलालिबाल-व्यजनपवनलीलावीजनैरप्यजीवन् ॥ १२
समदमदनभूभृन्नव्यसाचिव्यलब्धि-प्रगुणितगुणमब्धिर्नन्दनं चन्द्रमेनम् ।
तरलतरतरङ्गोत्तुङ्गदुत्तुङ्गबाहुः, परिचितपरिरम्भारम्भमभ्युत्पपात ॥ १३
उडुगणमिषमुक्तव्यक्तमुक्ताकलापं, गजदनुजमिवेन्दुर्ध्वान्तमुच्छिद्य सद्यः ।
हृदि तदजिनखण्डं लक्ष्मलक्षेण बिभ्रद्, व्यहरत हरमूर्तिर्मूर्ध्नि धात्रीधरस्य ॥ १४
भृशमुरसि कलङ्कच्छद्मना कालचित्रौ-षधिमधित निबद्धामोषधीनामधीशः ।
अपि पिबति चकोरीचक्रवाले कराले, तदिव न दिवि नेशुर्भासुरास्तस्य भासः ॥ १५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरहशिखिसमीरः कामनासीरवीर-स्तिमिरतरुकुठारः पूर्वदिक्तारहारः ।
गगनगजनिषादी कामिनीचक्रवादी, सितरुचिरुदितोऽयं वर्धयन् वार्धितोयम् ॥ १६
इभकुलमिभमल्लोद्भासि कैलासशैला-कृतिमकृत नगौघं शेषवच्छेषसर्पान् ।
रुचिरमृतमरीचेः सङ्घभर्तुर्यशःश्री-रिव धवलितविश्वा जाह्नवीं निह्नुवाना ॥ १७
वियदहनि वितेने स्वस्य विश्वस्य सङ्घ-क्रमसमुदितधूलीमण्डलैर्मण्डनं यत् ।
सुकृतमिदमिदानीं मूर्त्तमभ्युद्यदिन्दु-द्युतिनिभमिति लेभे भिन्नमालिन्यमालम् ॥ १८
चिरमुपचितहर्षः सङ्घलोकावलोका-दिव कृतसुकृतोऽयं व्योमचूडावलम्बी ।
सहजनिजकलङ्कन्यत्कृतिभ्राजमाना-कृतिरकृत न केषां विस्मयं शीतरश्मिः ॥ १९
निशि नियतमियत्यामप्यमुं सङ्घलोकं, कृतमहामिह भक्त्या जागरूकं विलोक्य ।
इयमधुनुत मौलिं विस्मिता व्योमलक्ष्मीः,कुसुममिव तदाऽस्मान् मन्दमभ्रश्यदिन्दुः ॥ २०
गिरिशिरसि जिनेशं नन्तुकामस्य मा स्या-महमहह ! महत्त्वादस्य यात्रान्तरायः ।
इति विसृमरभावभ्राजमानक्षणस्य, क्षणमपि न तमिस्रा सङ्घलोकस्य जाता ॥ २१
चलितसकलतारालोकमामुक्तसन्ध्या-दहनमिह विहायोमण्डलं द्राग् विहाय ।
सहजमहसि सूरे हन्तुमागन्तुकामे, परमपरमहीभृद्दुर्गमिन्दुर्गतोऽयम् ॥ २२
सजलजलदचारुर्वारुणीरागभाजः, क्षितितललुठितस्यामुष्य मुक्ताम्बरस्य ।
सुमरतिमिरवेषो यज्वनां भर्तुरेष, त्रिभुवनभवनान्तर्दुर्यशोराशिरासीत् ॥ २३
स्फुटघटितकलङ्को यज्वनामेष भर्त्ता, त्यजति करगृहीतामप्युषां भूरिभुक्ताम् ।
इति बत ! कुमुदिन्यः सारसौरभ्यलोभा-गतमधुपधवेषु व्यादधुर्बन्धसन्धाम् ॥ २४
हरिहरिति रथाङ्गानल्पसङ्कल्पकल्प-द्रुम इव दिवसेऽस्मिन्नुद्गमारम्भभाजि ।
जलधिसविधगुप्तादंशुमद्बिम्बबीजा-दुदयत मृदुतेजःकैतवादङ्कुरोऽयम् ॥ २५
पतितवति पयोधेरन्तरा हन्त ! रात्रि-प्रिययुवतिविभेदाद् दुःखभाजि द्विजेन्द्रे ।
द्विजततिरतितारं निर्ममे तारकाणां, पथि कलकलमुच्चैरुच्चरन्ती चिराय ॥ २६
भृशमुषसि तुषारस्यन्दसङ्काशतारा-वलिवलयितनीलध्वान्तदूर्वावणौघः ।
गगनपथविहारोच्छृङ्खलैरस्खद्भि-स्तरगिकरकिशोरैर्जग्रसे मुक्तमुक्तैः ॥ २७
भुजगजगति [1]भूतिं भोगिचूडामणीनां, भुवि भवनमणीनामम्बरे तारकाणाम् ।
सपदि विपदमेता निन्यिरे भू-र्भुवः-स्व-स्त्रयविवरविलासव्यापृता भानुभासः ॥ २८
मसृणघुसृणक्लृप्तश्चन्द्रलेखानुकारी, तिलक इव समुद्यन् प्राग्दिशः सूर्यलेशः ॥
अयमभजत जम्भारातिकुम्भीन्द्रकुम्भ-स्थलविलुलितलीलाशातकुम्भाङ्कुशाभाम् ॥ २९
जलनिधिजलमध्यात् तुङ्गशैलाग्रजाग्र-त्करपरिचयशक्त्या भानुरभ्युज्जगाम ।
सपदि विपदपेतं कान्तमेनं विलोक्य, प्रहसितमुखपद्मा पद्मिनी नृत्यति स्म ॥ ३०

१ ग-भूतिर्भो° ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवतमसंततीनां मृत्युकालोऽपमृत्युः, कुवलयवलयानां जीवितं पङ्कजिन्याः ।
अलमकृत नभोऽङ्कं कोकलोकस्य सीता-विरहितहरिशापानुग्रहोऽयं ग्रहेशः ॥ ३१
दयितमिति पुरस्ताद् वीक्ष्य भानुं युवानं, हरिहरिति हरिद्रारागमागःप्रकोपात् ।
स्फुटकमलमुखेभ्यस्तेऽमोचि निःश्वासधूमा-वलिरलिनिकुरुम्बच्छद्मना पद्मिनीभिः ॥ ३२
अजनि गिरिनितम्बे बिम्बमर्कस्य धातु-च्छुरितमिव सरागं सूर्यकान्ताग्नितप्तम् ।
करजलपरिधौतं चुम्बितं चाम्बरेण, क्षणघटितसुवर्णादर्शवद् दिग्वधूनाम् ॥ ३३
सममसममयूखैर्भानुमन्तं लसन्तं, गिरिशिरसि विलोक्याऽऽलोकनीयप्रभावम् ।
स इव सचिवभर्त्ता सङ्घलोकेन साकं, विमलगिरिशिरोऽग्रं गन्तुमभ्युत्सुकोऽभूत् ॥ ३४
सद्यो जिनक्रमनमस्कृतिलोलसङ्घ-सङ्घट्टलोलवसुधातलसम्भ्रमेण ।
श्रीवस्तुपालगुणहृष्ट इवाचलोऽपि, शत्रुञ्जयः स्वयमकम्पयदेष मौलिम् ॥ ३५

किञ्च—

नित्यं त्वद्वदनारविन्दसदनं वाग्देवता सेवते,
त्वं पद्माश्रयभासुरोऽसि जयति त्रैलोक्यसूत्रं त्वयि ।
श्रीमच्चण्डपगोत्रमण्डन ! गुणैरेभिर्भवान् ब्रह्मणः,
साधर्म्यं वहति प्रियंवद ! मदाशीर्भिस्तदायुर्भव ॥ १
अलभत बत ! यस्मिन् सान्द्रदारिद्र्यपूर्णे, गृहपतिरवकाशं न प्रदोषक्षणेऽपि ।
वितरति सति वित्तं वस्तुपाले कवीना-मिह गृहकुहरान्तर्नैष रत्नाकुलेऽपि ॥ २
श्रीमन्त्रीश्वरवस्तुपाल ! भुजयोर्युग्मेन युद्धार्णवं,
तूर्णं निस्तरतोऽपि ते समभवन्न व्याकुलत्वं किल ।
यद्दूरादवगण्य निर्मलगुणं शङ्खं त्वया मौक्तिक-
स्तोमानामिव धैर्यधुर्य ! यशसां चक्रे महान् सङ्ग्रहः ॥ ३
श्रीवस्तुपालसचिवेन्द्रयशःप्रसून-माल्येऽरिसिंहकविना गुणगुम्फितेऽस्मिन् ।
कण्ठे सतां लुठति निर्मद्दुर्जनाली-वक्त्रप्रभाः कति न बिभ्रति भृङ्गभावम् ? ॥ ४
प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये सूर्योदयवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

शैलमौलिगमनाय मनोऽश्वै-र्भ्राजमानमसमानविहारैः ।
प्रापदस्खलितमप्यसमेषु, द्राग् मनोरथरथं पथि सङ्घः ॥ १
भूरिधातुमयजङ्गमशृङ्ग-श्रेणिवद्विविधचीरविचित्रः ।
मन्दमन्दमथ सङ्घजनोऽसौ, सञ्चचाल गिरिराजतटेषु ॥ २
मञ्जुलः कनककुण्डलकान्तैः, स्त्रीमुखैः सरवि-सोमशताभैः ।
एकभानु-हिमभानुमनोज्ञं, मेरुमप्यजयदेष गिरीन्द्रः ॥ ३
अञ्चलैः शशिमुखीवसनानां, चञ्चलैः कटकसीमनि शैलः ।
सङ्घसङ्ग-सुकृतामृतसेका-दुद्भवत्प्रथमपक्ष इवाभात् ॥ ४
आन्तरेण नयनेन जिनेन्दो-राननेन्दुरुचिपानपराणाम् ।
अप्युदारगिरिशृङ्गविलासे, न श्रमः समजनिष्ट जनानाम् ॥ ५
नाम नामसुधया जिनभर्तुः, प्राप्तया जनमुखेषु न तृष्णा ।
दूरवर्त्तिनि मुखामृतकुण्डे, लोचनानि तृषितानि जनानाम् ॥ ६
प्राग्नियोजितमनोहततीर्था-धीशपादकमलाङ्कितमौलिः ।
शैलसानुषु जनो न तदानीं, तापमाप तपनांशुततिभ्यः ॥ ७
क्ष्मागतेन लघुकं यददर्शि, क्षोणिभृच्छिरसि तेन जनेन ।
उच्चकैर्विचरता ददृशे तत्, सङ्घसङ्गममदादिव पुष्टम् ॥ ८
देवभक्तिभरनिर्मितहस्ता-लम्बनव्यतिकरेण जनोऽयम् ।
आसदद् गिरिशिरांस्यतिहर्षा-न्मङ्क्षु सम्मुखमिवागतवन्ति ॥ ९
अद्भुतप्रमदशालिषु शैलः, शेखरस्थितिषु तेषु जनेषु ।
भूतिभर्त्सितसुरेषु स रेजे, मेरुवन्नवरविच्छविपिङ्गः ॥ १०
कर्मवैरिविजयाय सतेजा, **नाभिभू**पदनखांशुविचित्रम् ।
आरुरोह सचिवः शुचिदन्तं, दन्तिराजमिव तं गिरिराजम् ॥ ११
वीक्ष्य यक्षमिह सङ्घजनौघः, श्री**कपर्दिन**मथाब्धिरिवेन्दुम् ।
क्षुभ्यति स्म चतुरः स चतुर्धा, विस्तृतस्तरलहर्षतरङ्गः ॥ १२
अन्तरायदलनाय जनौघं, तीर्थसेवनकृतेऽभिपतन्तम् ।
द्रष्टुकाम इव वर्त्मनि दूरा-दारुरोह गुरुशैलशिलां यः ॥ १३
भावनासलिलशालिनि शश्वत्, तीर्थनाथपदपद्ममनोज्ञे ।
मानसे तनुमतां विलसन् यो, हंसवत् सृजति कामपि कान्तिम् ॥ १४
यक्षमुख्य ! स भवान् भुवनैक-त्राणकारणमकारणबन्धुः ।
वत्सलेव जननी जनमेनं, नाथ ! पालयतु बालमिव स्वम् ॥ १५

१. क–ख–°तटीषु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीकपर्दिनमिति स्तुतिपूर्वं, यक्षराजमभिपूज्य सहर्षम् ।
आशु सङ्घपतिरेष ससङ्घस्तीर्थनाथनमनार्थमचालीत् ॥ १६
उत्सुकैरथ जनैर्जिनचैत्यं, वीक्ष्य मङ्क्षु पथि गामिव वत्सैः ।
व्यक्तशक्तिरभसत्रुटितोचैः-कर्मबन्धतरलं प्रदधावे ॥ १७
सञ्चरन् भुवि न माति जनो यः, स्फूर्तिसङ्कुचितमूर्तिलतोऽसौ ।
द्रष्टुमास्यनलिनं जिनभर्तु-श्चैत्यधाम्नि स ममौ सममेषः ॥ १८
दल्यमानमसमानविमर्दे, हृद् हृदा ननु मिथस्तनुभाजाम् ।
आत्मभङ्गभयभङ्गुरसत्त्वै-रन्तरारिभिरमोचि तदानीम् ॥ १९
पापपङ्कशमनाय जनानां, स्नानमन्तरकरोद् ध्रुवमात्मा ।
रोमवर्त्मसु जलेन विमर्दे, स्वेदपूरमिषतः प्रसृतं तत् ॥ २०
आबभौ घनघनाघनलक्ष्मी-रङ्गिनां प्रमदरोमविकारः ।
अन्तरस्थितजिनेन्दुरुचिश्री-निस्सरदुरिततामसतुल्यः ॥ २१
लोचनैस्तनुमतामिति खिन्नैः, प्राप्य जैनवदनामृतकुण्डम् ।
आशु क्लृप्तसवनैरिव रेजे, सम्मदेन विगलज्जललेशैः ॥ २२
तत्र तादृशि जनस्य विमर्दे, शक्यते भ्रमयितुं न करोऽपि ।
वीक्ष्य विश्वविभुमेनमनृत्यन्, भाविनो यदि मुदा मनसैव ॥ २३
स्वीयतादृशविमर्दसुदूर-क्षिप्तसूरकिरणः किल लोकः ।
रत्नभूषणविभिन्नतमिस्रो, भक्तिकृत्यमकृत प्रभुचैत्ये ॥ २४
धूलिधूम्रपद एव तदानी-मागतो जिनपतिं प्रणिपत्य ।
दूरपूरितमनोरथवेगः, स्तोतुमारभत मन्त्रिवरोऽसौ ॥ २५
त्वद्गुणान् गदितुमीश ! समग्रान्, न स्वयं सुरवरोऽपि समर्थः ।
गोचरोऽप्यसि न मादृशवाचां, मौनमेव हि तव स्तवहेतुः ॥ २६
त्वां निरर्थकगिराऽपि तथाऽपि, स्तौमि विश्वनुत ! मुग्धतयाऽहम् ।
प्रीतये निजशिशोः स्फुटलाला-म्भांसि लल्लरवचांसि गुरूणाम् ॥ २७
न क्षमोऽयमहितानपि हन्तुं, स्वं कुटुम्बकमयं च मुमोच ।
जल्पिता जिन ! परैरिति दोषाः, प्रत्युत स्तवनतां तव जग्मुः ॥ २८
भाषितं भुवनभूषण ! भित्त्वा, कर्म निर्ममपते ! भवतेदम् ।
श्रूयते त्वदभिधाऽपि कदाचिद्, यत्र तत्र न करोति निवासम् ॥ २९
नाऽऽप्नुवन्ति भवबन्धनिकेता-दग्रतस्तव गतस्य पदं ये ।
भ्रम्यते भ्रमवशाज्जिन ! मुक्त्यै, तैर्वृथैव पृथिवीवलयान्तः ॥ ३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वं मनोभवमपास्य पुनस्त-जन्मभीरुरमुचः स्वमनोऽपि ।
किं हरन्तु हरिणीतरलाक्ष्य-स्तावकं तदमनस्ककिरीट ! ॥ ३१
प्राप्य रत्नमिव पुण्यपयोधे-स्त्वां हृदि प्रणिदधाति जनो यः ।
स प्रयाति पुरुषोत्तमभावं, पश्य न स्वपिति किन्तु भवाब्धौ ॥ ३२
यामवाप्य न नमामि भवन्तं, तां न निर्वृतिमपि स्पृहयामि ।
त्वत्प्रसादवशतस्त्वयि भक्ति-र्भातु मे जिन ! भवेऽपि भवेऽपि ॥ ३३
निर्मितस्तुतिरिति प्रतियातः, कृत्स्नमेष सुकृती कृतशौचः ।
स्नानहेतुकलशान् घुसृणाम्भः-पूरितानयमचीचलदिन्द्रैः ॥ ३४
श्रावकाः प्रतिपदं हृदयाग्र-न्यस्तहस्तधृतकाञ्चनकुम्भाः ।
निस्तरीतुमिव संसृतिसिन्धुं, कुर्वते स्म निरपायमुपायम् ॥ ३५
शुद्रसङ्घपतिकीर्तिलतानां, विष्टपत्रितयगर्भगतानाम् ।
आतपत्रपटली विमलश्री-रादिकन्दवदियं विरराज ॥ ३६
अत्युदारतरनर्त्तनगीतै-रुत्सवेन महता प्रहताघः ।
प्राप मन्त्रितिलकः किल कर्म-ध्वंसिनो जिनपतेरथ चैत्यम् ॥ ३७
कुङ्कुमाम्बुभिरसिस्नपदीशं, श्रावकैः सह यथाविधि मन्त्री ।
तैर्विधौततनुरेष तदाऽभूत्, पर्वतो **विमल** इत्युचिताह्वः ॥ ३८
अङ्गमण्डनमखण्डनमासी-न्निर्मितं मृगमदैर्जिनभर्तुः ।
क्लृप्तसन्नहनसन्निभमुच्चैः, कर्मकूटरिपुकोटिजयाय ॥ ३९
भूरिपुष्परचिता जिनभर्तु-र्लम्बिताः कृतिभिरर्चनमालाः ।
अप्रभूष्णव इव स्मरमुक्ता, मल्लयो वपुषि भूषणमासन् ॥ ४०
तैस्तथा जिनपुरस्तिमिरोर्मि-र्निर्ममेऽथ पृथुधूपजधूमैः ।
सस्पृहेव सचिवं सुकृतश्रीः, कौतुकादभिससार यथाऽसौ ॥ ४१
आरात्रिकं कृतमथ **प्रथमस्य तीर्थ-भर्तुः** पुरः स्फुरदुरुद्युतिचक्रवालम् ।
उच्चावचप्रसरणैर्निजघान सङ्घ-दोषद्विषः कुसुमवृष्टिविराजमानम् ॥ ४२
इत्थं प्रेक्षणकक्षणाहितमनाः सम्पूज्य विश्वत्रयी-
पूज्यं **नाभिसुतं** समाप्य च तथारूपामिहाष्टाहिकाम् ।
मन्त्रीशः प्रतिलाभितव्रतिततिः **शत्रुञ्जयो**र्वीधरा-
दुत्तीर्णः कृतमङ्गलः समजनि श्री**नेमि**सेवोत्सुकः ॥ ४३

किञ्च—

शौर्यैर्वज्रधरस्य दैत्य-मरुतामाचार्ययोः प्रज्ञया,
दानैर्देवगवी-मणि-क्षितिरुहां स्वर्गश्रियं गर्वितः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकेनैव विभूषणेन भवता श्रीवस्तुपाल ! क्षिति-
स्त्वं निर्जित्य मुदा तवाऽऽशिषमदादेवं मेदायुर्भव ॥ १

कल्पान्तोद्भ्रान्तभास्वत्करनिकरनिभो विश्वमन्तः समन्तात्,
सन्तापस्त्वत्प्रतापज्वलदनलभवः केन शक्येत सोढुम् ? ।
मन्त्रिन् श्रीवस्तुपाल ! त्रिजगति यदि ते कीर्त्तिलेखेव न स्या-
दन्तःपीयूषपेया बहिरपि च मुहुश्चन्दनोद्वर्त्तनानि ॥ २

भासि दौस्थ्यतरुखण्डखण्डनै-र्वस्तुपाल ! भुवि दानिकुञ्जरः ।
चित्रमत्र किमु शङ्खमर्दनं, यत् त्वया क्रमणलीलया कृतम् ॥ ३

काव्यमेतदरिसिंहनिर्मितं, सर्वतोमुखतयैव रङ्गभूः ।
वस्तुपालसचिवेन्द्रकीर्त्तिभि-र्नर्त्तकीभिरिव यत्र नृत्यते ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये शत्रुञ्जयदर्शनो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

सचिवः समं सपदि सद्धजनै-रथ देवपत्तनमगान्नगरम् ।
प्रणनाम कामजयिनं नयन-प्रियमिन्दुलाञ्छनमिहोग्रमहाः ॥ १

विधुमौलिमौलिविधुधामभरै-रिह मे भविष्यति सदाऽभ्युदयः ।
इति पाथसाममुमत्र पतिं, कृतवासमैक्षत स मन्त्रिपतिः ॥ २

इह सोमनाथमुकुटोल्लसितैः, सरिदम्बुभिर्विधुविभाभिरपि ।
सततप्रवृद्धविहरल्लहरी-निवहध्वनिध्वनितदिग्वलयम् ॥ ३

सततान्तरालशयविष्णुवपु-र्विभवद्भिभाभिरिव मेचकितम् ।
उदयत्तदीयशयनीयफणि-स्फुटरश्मिराशिनिभफेनधरम् ॥ ४

सलिलेन विश्ववलयप्रलयः, समये मयैव रचनीय इति ।
मुहुरीरितापहृतवीचिभरै-र्जनयन्तमन्वहमिहाभ्यसनम् ॥ ५

पुरुषोत्तमो हृदि मदीयसुतं, शिरसीश्वरोऽपि विदधाति सदा ।
प्रमदादुदारतरगर्जमिव, प्रकटं नटन्तमिव वीचिकरैः ॥ ६

अयि वज्रमाजि कुपिते द्युपतौ, कृतरक्षणं क्षितिभृतामभितः ।
स्फुरितोर्मिबाहुमिति कीर्तितती-र्जगति क्षिपन्तमिव फेनमिषात् ॥ ७

१ ग-महायुर्भव ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकृशैः कृशैश्च नवशुक्तिफल-प्रकरैर्विभान्तमभितः शुचिभिः ।
शिशुभिर्निजैः शशिभिरङ्कधृतै-रिव भाविभूरितरकल्पकृते ॥ ८

द्युमणिः क्षपामणिरपि प्रभया, मयि मुच्यते जयति कोऽयमिह ।
इति विस्मयादपरवारिधिना, सचिवोऽप्यनन्यसदृशो ददृशे ॥ ९

अथ कम्बुचिह्नशुचिरम्बुनिधिः, स्फुरितेन्द्रनीलमणिनीलरुचिः ।
रभसादसस्मरदमात्यपते-र्नमनाय **नेमिजिन**मात्मगुणैः ॥ १०

अथ सञ्चलन्नचल**रैवतकं**, पुरतः स्फुरत्पवनलोललतम् ।
सचिवो ददर्श शुचिसङ्घसमा-गमनप्रवृत्तमदनृत्यमिव ॥ ११

वनवल्लयो गुरुतयाऽस्य गिरेः, शिखरान्तराललिलितोडुगणाः ।
विबभुर्भृशं सविध**नेमि**विधु-प्रभवप्रभावसततप्रसवाः ॥ १२

गिरिरेष सिन्धुतनिकानिकरै-र्वितनोति धर्मनृपतिस्थुलताम् ।
कलशश्रियं शिरसि यस्य दधौ, गगनापगाध्वजिनि **नेमिजिनः** ॥ १३

न तथा व्यराजदुडुशुक्तिफलै-स्तरणीन्दुकुण्डलयुगेन न च ।
शुशुभे **समुद्रविजया**ङ्गभव-प्रभुमौलिनीलमणिनैव यथा ॥ १४

अवलोक्य धूपमयधूमततिं, जिनधाममूर्धनि पयोदधिया ।
इह चातकैः स्मितमुखैर्मुमुदे, वियदापगालहरिसीकरतः ॥ १५

कटकस्थकाननकलापिकुलं, घनकाल एव मुदमुद्वहते ।
इह **नेमिमन्दिर**मृदङ्गरवै-रनिशं शिरोवनविलासि पुनः ॥ १६

इति वर्णयन्नयमनूननयः, सचिवः शिवश्रिय इवाऽऽश्रयभूः ।
कृतसन्निवासरचनः सुचिरं, गिरिदर्शनोत्सवविधिं व्यधित ॥ १७

कृतकृत्य एव समये शयितः, क्षणदाक्षयक्षणविबोधशुचिः ।
प्रणिपत्य **नेमि**नमयं मनसा, सचिवो मनोरथमिति व्यदधात् ॥ १८

जनये जिन ! स्मितमनाः स्नपनं, भवदीयदर्शनसुधाजलधौ ।
भवदावपावकभुवोऽभिभवन्, विपदः कदाऽहमपदाहवपुः ? ॥ १९

भुवनाधिपातिभवदाहभिदे, भवदङ्घ्रियुग्ममहमाप्तमहः ।
निदधामि मूर्ध्नि नलिनाभमथ, प्रलयैकदारुण ! कदाऽरुणितम् ? ॥ २०

भवकाननान्तरविहारभवां, भवदाननेन्दुरुचिपानरुचिः ।
विषमां तृषं परिहरामि चिरा-च्चपलश्चकोर इव देव कदा ? ॥ २१

विकटं नयामि शिखिवच्छिरसि, स्वकरौ कलापिकलया कलयन् ।
अवलोक्य वारिदमिवाशु कदा, शुकदारदीप्तिभवदीयवपुः ? ॥ २२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नयनाग्रवर्त्मनि परिस्फुरतीं, दुरितान्धकारपटलीं विकटाम् ।
दलयन्ति मे त्रिजगदीश ! कदा भवदीयपादनखदीपशिखाः ? ।। २३
भुवनैकनाथ ! भवदीयवपु-र्विपुलप्रभापयसि मग्नमपि ।
द्वितयं कदा नयनयोरिह मां, हिमहारतारगुण ! तारयति ।। २४
तदपीयत श्रुतिपुटेन यशः, सततं विषण्णदिविषन्नदि ते ।
भवदङ्गदीप्तिममुना यमुना-जयिनीं धयामि नयनेन कदा ? ।। २५
नलिनादिपुष्पनिवहेन सुरै-र्यदपूजि पादयुगमीश ! तव ।
जिन ! तेन पङ्कजनिभेन कदा, जनयामि पूजितमिवाऽऽत्मशिरः ।। २६
इति गद्गदाश्रुपुलकाकुलितः, कलयन् मनोरथमनन्यमनाः ।
सचिवः **शिवातनय**मात्तनयः, क्षणमेकमैक्षत पुरोगमिव ।। २७
अथ कल्पिताखिलविभातविधि-र्गिरिमारुरोह सह-सङ्घजनैः ।
सचिवो जिनक्रमनखेषु पुरो-गमितेन कृष्ट इव मङ्क्षु हृदा ।। २८
तदनु प्रमोदरभसेन रजः-प्लुतपाद एव विननाम जिनम् ।
अपि चैष नेत्रगमिताक्षगण-प्रसरक्षणं निभृतमीक्षितवान् ।। २९
रचिताङ्गशौचविधिरिन्द्रगणैः, सहितो जिनस्नपनहेतुरथ ।
जिनभक्तिरागमिव मूर्त्तमसौ, कलशेषु कुङ्कुमजलं न्यदधात् ।। ३०
अथ केऽपि भक्तिभरभासुरिताः, स्फुरिता जिनस्य पुरतः परितः ।
स्वयमुत्सवं विदधिरे मधुर-ध्वनिगीतिरीतिमयवाद्यलयम् ।। ३१
वदनाग्रभागगतपाणियुग-स्थितभेरिदण्डमिषदन्तकरः ।
शुशुभे करीन्द्र इव मन्द्ररवः, किल कोऽपि पापतरुपातपटुः ।। ३२
अपरः पयोदरववादभव-न्निनदं मृदङ्गमपि वादितवान् ।
ननृते दरद्दुरितभोगिशतैः, कृतिनां मनोमयमयूरकुलैः ।। ३३
अपरस्य वंशमपि वादयतो, मधुरस्वरैः प्रमदिनां कृतिनाम् ।
यदमीलि पक्ष्मपुटकेन रसात्, तदवेशि कर्ण इव नेत्रमृगैः ।। ३४
अपरः पिबन्नपि **शिवातनुभू**-वदनेन्दुदीधितिसुधां स्थिरदृक् ।
भृशमुज्जगार जनयन् जनता-हृदि सम्मदं ललितगीतमिषात् ।। ३५
चटुला नटी सरसनृत्तवशा-दिह रत्नभूषणशुभा शुशुभे ।
कुलदेवतेव तडितां तरला, जलदद्युतेर्जिनपतेः पुरतः ।। ३६
इति सम्मदेन जिनमस्नपयद्, घुसृणाम्बुभिः क्षितिपतिः स तथा ।
कपिशो यथाऽयमपि **रैवतकः** किल देवताद्रिसदृशो ददृशे ।। ३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वहृदः प्रमोदविशदस्य रसात्, परमाणुभिः पुर इव प्रसृतैः ।
सचिवेन सारघनसाररसै-र्नवमङ्गमण्डनमकारि विभोः ॥ ३८

कुसुमायुधस्य कुसुमानि मना-गपि सम्मुखानि नहि यत्र ययुः ।
इह तानि तीर्थकृति सङ्घटयन्, स बभौ कृती मदनतोऽप्यधिकः ॥ ३९

यमुनौघसङ्गमधिया सचिव-प्रथितेऽथ धूपमयधूमभरे ।
प्रमदेन तत्क्षणमकारि नभः-सरिदम्बुनि द्युमुनिभिः सवनम् ॥ ४०

अथ तामसं कवलितं चलिता-ञ्जनकैतवेन भृशमुद्गिरता ।
नवदीपिकापरिकरेण चिरं, निरराज यज्जिनमयं सचिवः ॥ ४१

स्फुटमष्टकर्ममथनोऽयमिति, प्रथयन्निहाष्टदिवसानि महम् ।
स्वयमष्टमूर्तिमुकुटेन्दुसमं, सचिवोऽष्टसु न्यधित दिक्षु यशः ॥ ४२

सचिवस्य दास इव शब्दजितो, जलवाह एष गिरिमूर्ध्नि वहन् ।
न ववर्ष सङ्घजनतार्त्तिभयात्, त्रुटितान्यपूरि सलिलानि पुनः ॥ ४३

देयाः स्वामिन्! पुनर्मे सुकृतपुरपुरोढौकनानीति जल्प-
न्नानन्दस्पन्दसारैरिव घटितमना **नेमिनाथं** प्रणम्य ।
नामं नामं निकामं विधिवदविधुरं मन्त्रिमान्योऽयम**म्बा-**
शाम्ब-प्रद्युम्नमुख्यानपि पुलकिवपुः पर्वतादुत्ततार ॥ ४४

किञ्च—

स्वस्ति श्रीदेवलोकादमरपरिवृढः क्ष्मातले श्रीविशालं,
मन्त्रीशं **वस्तुपालं** कुशलयति यथा जीव! कल्पान्तकोटीः ।
लीनास्त्वत्कीर्तिगाने यदसुरविसरा न स्मरन्त्येव वैरं,
स्वैरं वाऽमी स्मरन्तु त्वदरिभिरभवन् दुर्जया मे ध्वजिन्यः ॥ १

चञ्चत्काञ्चनकूटकोटिघटितक्रीडाचलैर्याचक—
स्तोमैः प्रस्तुत**वस्तुपाल**सचिवप्राप्तार्थसार्थस्मितैः ।
अस्त्येषां किमु नाम धामनि कियद् दास्यन्त्यमी याचिताः?,
मत्वैवं न ययाचिरे बत! परे कल्पद्रुकल्पा जनाः ॥ २

उच्चरणचारचारुस्तव खङ्गः किमपि सुरभसारम्भः ।
श्री**वस्तुपाल**! जगति, व्यजयत **सङ्ग्रामसिंह**ममुम् ॥ ३

लावण्यसिंहतनयाननसोमरश्मि-स्तोमं खलास्यकमलालिकलापहारी ।
श्री**वस्तुपाल**सचिवाधिपकीर्तिदुग्ध-सिन्धुं तरङ्गयति नित्यमयं प्रबन्धः ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मि**न्नरिसिंह**विनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्य**मरपण्डितः** ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये श्रीनेमिदर्शनो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ गिरीशतटीषु मनीषिणां, परिवृढः परिपूर्णमनोरथः ।
षडपि तत्र ददर्श ऋतून् कला-शुचिरयं चिरयन्त्रितविभ्रमान् ॥ १

प्रकटितायसकर्त्तरिका मधौ, मधुसखस्य भटा इव किंशुकाः ।
भ्रमरसङ्गसितेतरविस्फुरत्-सुमनसो मनसो ददते मुदम् ॥ २

इदमभूद् दलयन् नलिनीः प्रियाः, मम महःपरिखण्डनहेतवे ।
इति हिमस्य भिदामहिमद्युतिः, स्म तनुते तनुतेजितविष्टपः ॥ ३

स्मरशिखी तनुमानिव चम्पकः, कुसुमितो मधुपावलिधूमितः ।
दहति काननसीमनि काञ्चन-च्छविरहो ! विरहोषितयोषितः ॥ ४

स्मितसरोजमुखीमुखवासना-सुरभिमद्यविशेषितसौरभम् ।
परिहृतापरवल्लिमधुव्रती-धवकुलं बकुलं प्रति धावति ॥ ५

सुमनसां त्वमसि स्थितिभूस्त्वया, जयति विश्वमसौ कुसुमायुधः ।
मधुमितीह रसालरसालसा, पिकवयः कवयः कवयन्त्यमी ॥ ६

स्मरनृपस्य चरत्वमुपागता, द्विजचया मधुरध्वनिशालिनः !
मधुलिहः सुमनस्सु ददुः पदं, तिलकजालकजातविभूतयः ॥ ७

दधुरनङ्गनिषङ्गतुलामधो-मुखशिलीमुखराजिविराजिताः ।
स्फुटविकाशमुखाः कमलाकराः, न पथि कं पथिकं प्रति प्रीतये ॥ ८

स्तुतगुणं कुतुकेन मधुव्रतै-रिव रवाकुलितैः सुमनोमयम् ।
मधुसखाय मधोर्विनियोगतः, शरचयं रचयन्तितमां लताः ॥ ९

व्यथयति प्रथितारुणतेजसो, दहनमन्त्रमयादिव शश्वतः ।
मधुसखोऽयमशोकलतालसत्-कुसुमतोऽसुमतो विरहातुरान् ॥ १०

मलयजद्रुमसङ्गिभुजङ्गम-स्फुरितफूत्कृतिसम्भ्रमसम्भृतः ।
पथिकलोलदृशां मलयानिलः, सुविषमो विषमोहमिव व्यधात् ॥ ११

कमलकोमलकोशकुचोन्नते-रलिकलालिकलासितसम्पदः ।
व्रततिकाव्रतिकायवनश्रियो-ऽधिकमशोकमशोभत पाणिवत् ॥ १२

कमलकान्तिहरीं कृशतां नयन्, सह हिमाद्रिहिमेन विभावरीम् ।
कमलबन्धुकृतोन्नमनो बभौ, शुचिरयं चिरयन् दिवसश्रियम् ॥ १३

द्रुतसमेतदिनाधिपतिप्रभा-परिगलद्गतशेषतमीकणाः ।
अनिललोलशिरीषरजच्छलाद्, द्विरदनीलरुचो बभुः ॥ १४

अहमिहारुणधाम्नि सितेतरो, बत ! विभाम्यथवाऽत्र सितच्छवौ ।
भ्रमति भृङ्गयुवा नवपाटले, विचकिले च किलेति मुहुर्मुहुः ॥ १५

---

१ ग–पथिकलोकदृ°

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरलतारलतागृहपङ्कज-च्छदनचन्दनचन्द्रमरीचिभिः ।
तपनतापनताकृतिरप्यसौ, रतिवरोऽतिवरोरुषु जृम्भते ॥ १६
नभसि दर्पणतुल्यतडिल्लता, जलदपद्धतिरुद्धतडम्बरा ।
मदनसैन्यगजव्रजवद् बभौ, कृतरवा तरवारिसितेतरा ॥ १७
वियदमीमिलदर्क-निशाकर-द्वयमये नयने भयतो भृशम् ।
यदतुलां तडितं घनमालिका-धिकरवा करवालमिवाक्षिपत् ॥ १८
यदयमेतदवाप्य तपस्विनां, हृदि हतोऽपि जिजीव मनोभवः ।
अपि भुजङ्गभुजां शुशुभे सुधा-कवचनं वचनं शिखिनां ततः ॥ १९
मदभिवर्धितसिन्धुमहीरुह-व्रजविशोषकमेतदिति क्रुधा ।
अधिककर्ममहः सहसा घनैः, कवलितं वलितं तडितां मिषात् ॥ २०
अपरता परतापककण्टिका-हतककेतककेलिषु षट्पदी ।
अमलकोमलकोरकसौरभ-स्थितिषु जातिषु जातरसाऽभवत् ॥ २१
अलकलोलमधुव्रतमञ्जुलाऽ-म्बुजमुखी जघनोज्ज्वलसैकता ।
शरदि हंसरवेण समाश्रिता, धृतरसा तरसा तटिनीवधूः ॥ २२
क्वचन भर्तरि याति तपात्यये, घनघटाश्रुजलानि मुमोच न ।
विरहवद् दधती तपनं व्यथा-प्रदममन्दममङ्गलशङ्कया ॥ युग्मम् ॥ २३
पदमधत्त गतस्य पयोमुचः, सुहृदशून्यमसौ शिखिनां गणः ।
गलितपत्रमयातपवारणैरविभवं विभवं महसां क्षिपन् ॥ २४
समुदिते मुदितेऽम्बुरुहि प्रिये कुलवये वलये सरितां तथा ।
अभृत सम्भृतसम्पदमर्यमा-च्छविमलं विमलं च विधुर्महः ॥ २५
खररुचेर्विजयाय निजद्विषः, सहसि साहसिकीव विभावरी ।
प्रतिदिनं परितः परिवर्धितो-त्तमहिमा महिमानमुपाययौ ॥ २६
तुहिनमन्दतरां मलिनेऽब्जिनी-मलिनि मुञ्चति रागपरामपि ।
करणिकाभिरहो ! शतपत्रिकाः, सह सितं हसितं परितन्वते ॥ २७
पदमकारि मुखे सुदृशां सदा, विमलकान्तिनि कुङ्कुममण्डिते ।
हिमरुचः कमलस्य च सम्पदा, हिमनिकामनिकारविनुन्नया ॥ २८
तुहिनवाहिनवाद्भुतवातभी-रुचितकुञ्चितकुङ्कुमकैतवात् ।
वरतनूरतनूष्मणि भास्वरा-तपततिः पतति स्तनमण्डले ॥ २९
हिमभरस्य तपःप्रथितोन्नते-र्वनमहीरुह एव भुजो भृशम् ।
निजरिपोरपि निर्गमनोद्यमं, दिनकरो न करोति कथञ्चन ॥ ३०

१ क–ख अभि भु° ॥ २ एतत्पद्यं क–ख पुस्तकयोर्नास्ति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुलककम्पितसूक्तिभिः परि-ष्वजनकर्म दिशन् हरिणीदृशाम् ।
हिममयः पवनो ननु कामिना-ममितकामितकारणतां ययौ ॥ ३१

पथिककाननलग्नमनोभव-ज्वलनसम्भवधूमभरोपमम् ।
नवलवङ्गरजः पवनाहृतं, जगति रङ्गति रङ्गितषट्पदम् ॥ ३२

दिनमयं नमयन् सहसा कृत-स्मरजनी रजनीः परिवर्धयन् ।
विरहितारहितासु सुखोर्मिका-रसमयः समयः शिशिरो भृशम् ॥ ३३

सततकुसुमितान्नृतूनशेषा-निति समकालमिहावलोक्य मन्त्री ।
अधुनुत विदितप्रभुप्रभावा-तिशयविचारचमत्कृतः किरीटम् ॥ ३४

शैलेऽस्मिन् पुरुहूतपौरमिथुनैर्मन्त्रीशनिर्मापित-
श्रीमन्नेमिजिनेश्वरोत्सवभवत्कौतूहलाकारितैः ।
रन्तुं नित्यषडर्तुभूतिविभवद्वल्लीभवल्लीलया,
सानन्दैरतिमन्दनन्दनवनीमुक्तस्पृहैः संस्पृहे ॥ ३५

कुसुमावचायमनसां श्रवणे, सुरयोषितामथ सरोजजुषि ।
कुसुमादुपेत्य निभृतध्वनयो, दधतीव भेदमलिनो मलिनाः ॥ ३६

वयमेव शस्त्रपदवीं गमिता, मदनेन सम्प्रति किमेभिरिति ।
अवचिन्वते स्म कुसुमानि तदा, रमणैः समं सुरकुरङ्गदृशः ॥ ३७

नववृक्षमूर्ध्नि यदकारि तप-स्तपनातपेन धृतरागभरैः ।
तरुणीकरग्रहणपुण्यफलं, नवपल्लवैरिदमलाभि ततः ॥ ३८

नवपल्लवा निजविभूतिहृतो, वनवर्तिनः स्फुटमशोकजुषः ।
परिकम्पिनो हठवशादरुणै-स्तरुणीकरैर्बिभिदिरे रभसात् ॥ ३९

कुसुमार्पणेषु रमणः सुदृशा, प्रथितेऽन्यनाम्नि लघुतां गमितः ।
हृदयात् तदात्वतरलेन सह, श्वसितेन तूलवदकर्षि बहिः ॥ ४०

ददता प्रसूनमपराभिधया, दयितेन वज्रनिभयाऽभिहते ।
हृदि मानिनी ननु विधाय दृशं, सजलामवागतनुत श्वसितम् ॥ ४१

उदितं प्रियेण निभृतं चतुरा, परगोत्रमश्रुतवती च रहः ।
तदुरस्थपुष्परजसि श्वसितं, व्यधिताद्यमश्रु च तदुद्वयने ॥ ४२

सृजता स्रजं शिरसि पद्मदृशो, मृदु चुम्बता प्रियतमेन परा ।
अपि शेमुषीश्लथतया न रसाद्, ददृशे परा न तयाऽपि रुषा ॥ ४३

सकलस्वकीयकुसुमस्वहृति-प्रतिपन्थिनीः प्रति भृशं सुदृशः ।
अमुचन् शीलिमुखशतानि लताः, समभूषयन्नहह ! तान्यपि ताः ॥ ४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ काननान्तरविहारभव-श्रमखेदभेदरभसेन ययुः ।
दयितैः समं मृगदृशोऽम्बुनिधि-प्रतिहस्तकं सवनहेतु सरः ॥ ४५

तरुणीसमागमवशेन जवात्, किल पल्वलोऽजनि मुदा द्विगुणः ।
विलसत्तरङ्गकरकोटिरयं, तिरयन् निजाः कमलिनीदयिताः ॥ ४६

अतिदूरतः सरभसं रसभाक्, समुपेत्य लोलविषयव्यसनः ।
कुचयोर्विलुठ्य सुदृशां विलयं, प्रययौ तरङ्गनिकरः सपदि ॥ ४७

दयितेषु तोयजवनेषु गते, रभसेन यत्र कलहंसकुले ।
सरसी रराज सुदृशां वदनैः, कुचमण्डलैरपि च फेनभरैः ॥ ४८

हरिणीदृशां कलितरागभरं, कुचसङ्गमेन परिवृद्धरसम् ।
ब्रुडदम्बुजन्मकपटेन सरः, परिमीलयत्यतिसुखीव दृशः ॥ ४९

अवलोक्य कोऽपि रभसेन जनं, विपरीतलोचनमुदाररसः ।
हरिणीदृशा श्रुतिसरोजकृता-ननचुम्बनव्यतिकरो हसितः ॥ ५०

अभिसेचनेन नयनप्रसृति-प्रसरत्कटाक्षरसतोऽनुपति ।
अपरा सखीं प्रति करप्रसृति-च्युतनीरशून्यजलकेलिरभूत् ॥ ५१

द्रुतमुद्धृतेऽम्बुजमिति प्रकटे, ब्रुडितस्य वारिणि करे कमितुः ।
विदितस्य वीक्ष्य मुखमस्य नवा, रमणी न किं किमकृत त्रपया ? ॥ ५२

ईदृक्केलिरसप्रसन्नमनसः स्वर्गौकसो भास्करे,
यातेऽप्यम्बुनिधिं सरःकुमुदिनीबोधप्रबुद्धक्षपाः ।
श्रीमन्त्रीश्वर**वस्तुपाल**यशसा शुभ्रे सदैवाम्बर-
क्रोडे वैभवपिष्टविष्टपतमःस्तोमेन जग्मुर्दिवम् ॥ ५३

किञ्च—

आस्ते यावदखर्वपर्वतघटा गुर्वीयमुर्वी भृशं,
तावन्नन्दतु **वस्तुपाल** ! जगतीपुण्यैरगण्यैर्भवान् ।
येनैतां भुजगाधिपस्तव भुजे विन्यस्य नागाङ्गना-
गोष्ठीगीतभवद्यशःश्रुतिरसैराचान्तचित्तोऽभवत् ॥ १

आजन्मापि कृशाकृतिं द्विजपतिं स्वे मूर्धनि स्वर्धुनी-
धौते धारयते जगत्पतिरसावग्र्यो गुणग्राहिणाम् ।
सद्यः सङ्गतमप्यमुं वसुभरैः पुण्णाति पूषा शिरो-
भूषा दानवतामुभावपि शुभावेतौ **वसन्ते** गुणौ ॥ २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीवस्तुपाल ! रणभाजि भवत्कृपाणे, धाराधरेऽपि परवारणविभ्रमेऽस्मिन् ।
उत्पन्न कोपतरलं सहसा जगाम, **खड्गग्रामसिंह** इति स स्वयमेव भङ्गम् ॥ ३

वस्तुपालसुकृतामृतप्रपा, काव्यमूर्तिर**रिसिंह**सूत्रिता ।
कण्ठदघ्नरसपायिनः शिरः, कम्पयन्ति किल यत्र कोविदाः ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मि**न्नरिसिंह**विनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्या**न्यमरपण्डितः** ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये षड्ऋतुवर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

तदनु वदनकान्तिन्यत्कृतेन्दुः कृतीन्दुः, समुदितमदपात्रं पूर्णयात्राभिलाषः ।
इह विहितनिवासः काशसङ्काशकीर्तिः, कृशिततिततकर्मा निर्ममे सङ्घभोज्यम् ॥ १

मलयजमयमम्भः पादयोरुत्तमाङ्गे, घनमथ घनसारं चीवरं चारु चाङ्गे ।
यश इव निजमीदृग्रूपमारोप्य तेन, स्मयरसमुपनीताः साधवोऽगाधबोधाः ॥ २

सन्नं यन्न तदापि रत्नकनकस्तोमैरतुच्छाशये,
तस्मिन् यच्छति वाञ्छताधिकतरं दीनेषु दूरादपि ।
मन्येऽपूरि ततो गभीरिमजितो रत्नानि रत्नाकर-
स्तस्य स्थैर्यनिराकृतश्च करदो हेमानि हेमाचलः ॥ ३

किं सूते कर एव हेमनिकरं श्री**नेमि**भक्तिक्रिया-
तुष्टे **रैवतका**धिदैवतकुलैः किं वा निधिः पूर्यते ? ।
इत्थं याचकसञ्चयस्य किमपि स्वस्यापि वाञ्छाधिकं,
तस्मिन् यच्छति खेचरेष्वपि चमत्कारश्चकार स्थितिम् ॥ ४

तदानीं दीनौघे मुहुरपि गृहीत्वा बहुतरं, स्वयं निर्विण्णेऽस्मिन् ददयमनिर्विण्णहृदयः ।
अहो ! किञ्चित् कोऽपि क्वचिदपि न याचेत वचनं, चिरादुच्चार्येदं **धवलकपुरे** गन्तुमुदितः ॥ ५

दुष्कर्माद्रिपविः पवित्रमहिमा नास्यां कदाचिन्महा-
मोहध्वान्तरविः प्रविक्ष्यति भृशं सङ्घो महोत्साहवान् ।
इत्थं पापलिपिं विलुप्य करणे भालोपमे **वामन-
स्थल्याः** पुण्यदिनं चकार सुकृती कुर्वन् प्रवेशोत्सवम् ॥ ६

कर्पूरागुरुधूपधूमपटलैरुत्क्षिप्यमाणैः प्रति-
ग्रामं तीर्थकृतामनेन कृतिना ये जज्ञिरे वारिदाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तैरेव त्रुटिते जले पथि तथा प्रेम्णैव वृष्टं यथा,
संपूर्णानि सरोवराणि न पुनः सिक्तोऽपि मार्गोऽनसाम् ॥ ७

स्वस्थानप्रसृतस्वबल्लभजनप्राग्भारसद्यःपरी-रम्भारम्भपुरःप्रसृत्वरमनोवेगावकृष्टैरिव ।
साकं सज्जनैः समुज्झिततमोभारैस्तदौत्सुक्यतो, गच्छद्भिर्धवलक्ककाभिधपुरोपान्तं प्रपेदे कृती ॥ ८

स्मेरत्काश्मीरनीरच्छुरितपथतया रागमासाद्य सद्यो,
लीलालोलत्पताकाञ्चलतरलचमत्कारिचञ्चत्कटाक्षा ।
जातक्षोभा पुरीयं सविपुलपुलकाकीर्णदूर्वाङ्कुराग्रैः,
प्राप्ते श्री**वस्तुपाले** सति सचिवशचीवल्लभे वल्लभेऽस्मिन् ॥ ९

इयं सर्वाङ्गीणप्रगुणितविभूषा किल तदा, तदाश्लेषं यावत् क्षणमिव पुरी भासुररसा ।
अभूदन्तःशून्या हृदय इव याते पुरजनैः, समं श्रीमन्त्रीशं प्रति सरभसं **वीरधवले** ॥ १०

श्री**वीरधवल-तेजःपाला**भिधसचिवमध्यगः सचिवः ।
त्रिपुरुषरीतिस्थापितहर इव हरति स्म तत्र मनः ॥ ११

भास्वन्निःस्वानभेरीमुरजभरजनिध्वानसन्तापभीति-
भ्रष्टाहङ्कारदेवीकृतरभसपरीरम्भसंरम्भहृष्टैः ।
शक्राद्यैर्देवचक्रैरपि सचिवपतिः स्तूयमानस्तदानीं,
प्रारेभेऽसौ प्रवेशं पुरि पुलकिवपुःपौरदृक्पीयमानः ॥ १२

अथ पृथुकमतुच्छैरेतदुत्सङ्गयन्त-स्त्रिभुवनमपि शब्दैरब्दसंवावदूकैः ।
नवभणितिविदग्धा मागधा भागधेय-प्रगुणितगुणभाजं तुष्टुवुर्मन्त्रिराजम् ॥ १३

जय जय नयशालिन्नासमुद्रान्तपृथ्वी-वलयमिलितकीर्ते ! मन्त्रिचक्रैकशक्र ! ।
दलितकलिविलास ! प्रस्फुरत्तीर्थयात्रा-कृतकृतयुगनव्यप्रस्तुते ! **वस्तुपाल** ! ॥ १४

बलिरपि कलिकाले याचकालीकराले, यदि भृशमभविष्यद् दानवो दानशौण्डः ।
इति भवदवलोकाद् विष्णुयत्नं विनाऽपि, स्वयमयमगमिष्यद् देव ! पातालमूलम् ॥ १५

श्रीविश्रामास्पदमपि मदाद् दासयस्याशु रुष्टः,
स्पष्टं तुष्टो जनयसि जनं श्रीविनिद्रं दरिद्रम् ।
सामर्थ्यं ते स्वयमिति समालोक्य धाता न सौस्थ्यं,
नो दौस्थ्यं वाऽधिप ! नृषु लिखत्यन्यथाभावभीत्या ॥ १६

सङ्गः सङ्गतगौरवैः सह सदा कार्यो न कार्यः पुन-
र्नीचैरीदृगनीदृशं जलपतेः पुत्री पुराऽपाठि यत् ।
तस्यां तत्पठनस्य निःशठतया पाठं ददत्यां दधे,
मुद्रा हाटकपट्टिकेव सलिपिः श्री**वस्तुपाल** ! त्वया ॥ १७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमन्त्रिमुख्य ! भवदीयविपक्षलक्ष-दुष्कीर्तिभिस्त्रिभुवनं परितः परीतम् ।
काहं स्फुरामि तव कीर्तिरितीव वक्तुं, कर्णोपकण्ठमगमत् पलितच्छलेन ॥ १८

श्रीसोमान्वयवार्धिवर्धनविधो ! मन्त्रीश ! वागीश्वरी-
लीलातल्प ! भवानकल्पि जगतः साधारणो वेधसा ।
इत्थं दाननिदानवैभवभवद्भालस्थलस्थापितै-
रेवैभिर्विभवाक्षरैर्विभवभाग् दुःस्थोऽपि सौस्थ्यं दधौ ॥ १९

कोपे पावकतप्तमार्गणसमं चक्षुः क्षिपन्ती पुनः,
प्रीतौ मौक्तिकदामसोदरमियं भ्रूरेव मन्त्रीश्वर ! ।
उल्लासान्निधनं धनं च ददती प्रत्यर्थिनामर्थिना-
मप्येषा किमु चापवल्लिरतुला किं कल्पवल्लिस्तव ? ॥ २०

आन्दोलयन्ति कृतिनस्तव कर्णदोला-लीलासु ये गिरमुदारमुदा रसाढ्याम् ।
भूकल्पवृक्ष ! तनुषे निजमौलिकम्पात्, तेभ्यः फलं दिवि यशःकुसुमान्युदस्यन् ॥ २१

का शक्तिर्द्युसदां सुधारुचिरसावेकः क्षयी पीयते,
तैः पक्षान्तरितोऽखिलैरपि समे निघ्नन्तु दैत्यास्ततः ।
अक्षीणस्य सदा त्वदाननसुधाभानोः पिबन् वाक्सुधा-
मेकः सन्न बलस्य वीरधवलो यावन्न सन्नह्यते ॥ २२

अंसौ ते सचिवावतंस ! निबिडाहङ्कारकारस्करा-
वष्टम्भस्थिरपौरुषद्विपमहाकुम्भभ्रमं भेजतुः ।
कुम्भावभ्रमुभर्तुरुद्धुरहरिस्फूर्जत्करास्फालन-
त्रस्ताऽसौ परिहृत्य नित्यसुखिता विश्राम्यति श्रीरिह ॥ २३

बुद्धिर्लतेव तव विस्फुरिता समस्त-शास्त्रामृतैरिह भृते हृदयालवाले ।
श्रीवस्तुपाल ! भुवि यत्प्रभवा प्रसून-मालेव मौलिषु न कैरघटि त्वदाज्ञा ? ॥ २४

श्रीसोमान्वयकुट्टिमोद्धृततुलापट्टः पतद्दुर्बल-श्रेयोयष्टिरनिष्टविष्टपविपत्सन्दोहलोहार्गला ।
श्रीविश्रामतरुः पराक्रमकरिस्तम्भो रिपुक्षोणिभृद्-दम्भोलिस्तव भाति गूर्जरधरोद्धारैकधुर्यो भुजः ॥ २५

असौ भृशं सन्ततसञ्चरिष्णु-लक्ष्मीपदालक्तकरक्तकान्तिः ।
भवत्कराम्भोरुहवद् विभाति, कृष्णारिनारीचिहुरालिपालिः ॥ २६

असन्नं सन्नद्धे यदिह विहरन्मार्गणगण-स्मयस्मेरे मेरोः कटकमटितः कल्पविटपी ।
इति व्यक्तं युक्तः सचिवकुलकोटीर ! करज-व्रजव्याजेनायं मणिमुकुटबन्धस्तव करे ॥ २७

किल जगति भवद्गतिं विलोक्य, स्वगतियशःक्षितिभीरवः सुरेभाः ।
सचिव ! तव भुजेऽपि भूमिभारं, दधति पदात् पदमप्यमी न चेलुः ॥ २८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमकमलयुगेऽस्मिन् सेवका देव ! कामं, तव सचिव ! नमन्तः प्रीतिमन्तः समन्तात् ।
नखरुचिजलवीचीधौतभालस्थदौस्थ्या-क्षरततय इवामी भूतिभारं भजन्ते ॥ २९

इति वर्ण्यमानगुणगौरवो रवो-द्धुरबन्दिवृन्दवरभारतीभरैः ।
जिनदेवतालयपुरस्सरः शनैः, प्रविवेश **पत्तनम**सौ महामतिः ॥ ३०

अथ तं विलोकयितुमाकुलं कुलं, सुदृशां गवाक्षपदवीषु कौतुकात् ।
अचलत् तदार्द्धकृतमुक्ततत्क्षण-क्रियमाणकर्मतति दर्शितादरम् ॥ ३१

विरचय्य काऽपि मणिकुण्डलं श्रुतौ, द्रुतमेकमेव चलिता कुतूहलात् ।
जगदुत्तमाननकुशेशयस्मय-स्वयमागतद्युमणिमण्डला बभौ ॥ ३२

औत्सुक्यभावकृतभूषणवैपरीत्या, कर्णावलम्बितमणिश्रितकङ्कणाभ्याम् ।
काचिच्चकार जितकुञ्जरकुम्भशोभे, पीनोन्नतस्तनतटे मुकुटावबन्धम् ॥ ३३

औत्सुक्यतः काचन चित्रकार्थं करे गृहीतां मृगनाभिमेव ।
स्निग्धाञ्जनभ्रान्तिवशात् किरन्ती, नेत्रद्वये तत्र दधौ मृगत्वम् ॥ ३४

वैकक्ष्यमाल्यमिलितः शुशुभेऽपरस्याः, पक्षान्तरप्रसृमरः कबरीकलापः ।
सर्वायसं कुसुमकार्मुकसन्निधाने, पृथ्वीवरानिव निहन्तुमधादनङ्गः ॥ ३५

ताडङ्कमेकं कर एव काचित्, तदा वहन्ती चपलं चचाल ।
त्रैलोक्यजैत्रस्मरचक्रवर्त्ति-पताकिनीबाग्रविलासिचक्रा ॥ ३६

आधात् पदे सपदि काचन काञ्चनस्य, हिञ्जीरमङ्कुरितकौतुकमेकमेव ।
स्त्रीषु स्वकीयविजयध्वजिनीषु विश्वे, दत्तं तु वीरकटकं मकरध्वजेन ॥ ३७

कृत्वैकमेव निजमञ्जनमञ्जु नेत्र-माबिभ्रती परमनञ्जनमेव काचित् ।
आभूषितं नु सहजं नु विशेषहृद्यं, जालागता किल विचारयतीव लोकैः ॥ ३८

काचित् तदा मन्त्रिवरं निरीक्ष्य, कञ्चिद् विभावं हृदये वहन्ती ।
दष्टाधरा पाणिपुटैरुरःस्थं, पिण्डीकृतं पीडयति स्म हारम् ॥ ३९

काचिद् भुजाभ्यां बहिरङ्गभावा-च्छून्यं यदाऽऽलिङ्गनमाततान ।
अन्तर्गते मन्त्रिवरेऽन्तरङ्ग-भावादशून्यं हृदये तदाऽऽसीत् ॥ ४०

इत्थं गौरवगौरपौररमणीरङ्गत्कटाक्षच्छटा-गुच्छच्छायमयूरपिच्छघटितच्छत्रच्छविच्छादितः ।
मन्दं मन्दममन्दबन्दिवचनैरानन्द्यमानो ययौ, धन्यः सौधमसौ धरातलसुधाधाराधरो धीरधीः ॥ ४१

मूर्त्तीस्तीर्थपतेरथाऽऽलयपदेऽध्यारोप्य लोकं पुनः,
सम्मानोचितचातुरीपरिचितः सर्वं विसर्ज्य क्षणात् ।
साक्षादक्षतपात्रपूरितकरप्रेयःप्रसिद्धाङ्गना-
रङ्गन्मङ्गलवर्धितः स गमयामास स्मितो वासरम् ॥ ४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किञ्च—

तात ! ख्यातगिरः सुता मम हता ही ! कालिदासादयो,
　　नन्वेकस्तु चिरायुरस्तु जगति श्रीवस्तुपालोऽधुना ॥
मार्कण्डः स्फुटमाशिषा शमवतामल्पायुरप्येष यत्,
　　कल्पायुर्जयतीति वाग्मिगदने धाताऽस्तु जातादरः ॥　　१

श्रीवस्तुपाल ! भवदीययशोऽङ्गजस्य, शश्वन्नभोऽङ्गणविहारमनोहरस्य !
सारङ्गसङ्गतकरस्तरवारिधारि-रक्षाभटश्रियमुरीकुरुते सितांशुः ॥　　२

सिन्धुराजविजयोज्ज्वलं यशो, वस्तुपाल ! तव चन्द्रवद् दिवि ।
यत्र दुःखपट्टलीमलीमसं, सिन्धुराजमुखमेव लाञ्छनम् ॥　　३

यत् कवेर्लवणसिंहजन्मनः, काव्यमेतदमृतोददीर्घिका ।
वस्तुपालनवकीर्तिकन्यया, धन्यया किमपि यत्र खेलितम् ॥　　४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मि-न्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥　　५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये पुरप्रवेशो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

आसाद्य वीरधवलाधिपतिप्रदत्त-श्रीस्तम्भतीर्थनगरप्रभुतामथासौ ।
कीर्तीः क्षितौ तनुमतीरिव कीर्तनानि, कर्तुं समारभत मन्त्रिशिरोऽवतंसः ॥　　१

पञ्चासराह्वमणहिल्लपुरीपुरन्ध्री-सीमन्तरत्नमिव पार्श्वजिनेशवेश्म ।
उद्धृत्य येन यशसा जनितो जरत्या, हस्तावलम्बनविधिर्वनराजकीर्तेः ॥　　२

श्रीस्तम्भतीर्थनगरे रचयाञ्चकार, भीमेशवेश्मनि च काञ्चनकेतु-कुम्भौ ।
मूर्त्तेव कीर्तिरनिशं वरवैजयन्ती, नर्नर्ति यत्र दिवि देवनदीं जयन्ती ॥　　३

उत्तानपङ्कमज(त)निष्ट पुरश्च भट्टा-दित्यस्य मूर्धनि च काञ्चनशेखरं सः ।
तत्रैव दूरतरतापयशःप्रताप-कारस्करद्वितयसम्भवबीजभूते ॥　　४

भट्टार्कपूजनवने वहकाभिधाने, कूपं व्यधापयदसौ क्षितिनाभिरूपम् ।
दूर्वाङ्कुरप्रकरकर्बुरिताङ्गकुल्या-मार्गापदेशमिलितासितरोमराजिः ॥　　५

अग्रेऽपि तत्र बकुलाभिधचण्डभानो-रुच्चैः सुधामधुरमण्डपकैतवेन ।
स्पष्टीकृतोऽयममुना प्रभवत्प्रभावो, भूमौ चमत्कृतिकृते स्वयशःशशाङ्कः ॥　　६

श्रीमानखण्डपदमण्डपमत्र मन्त्री, श्रीवैद्यनाथशिवसद्म यदेष चक्रे ।
रोगव्ययाय कृतिनां दधदोषधीशं, तत्रावतारमकृत स्वयमेव देवः ॥　　७

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

उच्चैःपदं निजयशोभरसोदरस्य, तक्रस्य तेन विदधे यदशौचभीत्या ।
तत्र स्थितं तदनुवासरमात्मभासा, विक्रेयवस्तुषु हसत्युपरिप्रतिष्ठम् ॥ ८
अत्रैव साधुकृतयेऽद्भुतपुण्यलक्ष्मी-नेत्रोपमं **वसतियुग्म**मसौ चकार ।
यत्र प्रतिक्षणमहोत्सवहेतुभूता, भ्रूविभ्रमं वहति वन्दनमालिकैव ॥ ९
आरोहवैभवभृतं तरुणीमिवासौ, कुम्भस्तनीमुभयपक्षगवाक्षनेत्राम् ।
तेने प्रपामपि रसप्रसरप्रशस्यां, वीक्ष्यैव यामयति मङ्क्षु न निर्वृतिं कः ? ॥ १०
तेन व्यधायि **धवलक्कपत्तन**श्री-लीलाकुशेशयमिवाऽऽदि**जिनेन्दुचैत्यम्** ।
मुक्त्वाऽपि वल्लभजनाननपङ्कजानि, यत् पीयते जनविलोचनचञ्चरीकैः ॥ ११
अत्रापि तेन **वसतिद्वितयं** मुनीनां, हेतोरकारि सुकृतामृतपानपात्रम् ।
यस्माद् द्विधा प्रसृमरः शुचिकीर्तिपूरो, विश्वश्रियः श्रयति विस्तृतहारशोभाम् ॥ १२
या कीर्तिरस्य समभूदिह **राणकाख्य-भट्टारकालय**समुद्धरणेन विश्वे ।
तस्या भुजङ्गमजगद्गमनाय मार्गं, वापीमिषादयमिहैव कृती वितेने ॥ १३
सा काऽपि कोमलयशोऽङ्कुरवर्धनाय, धात्रीव तेन रचितेयमिह प्रपाऽपि ।
या पूरयेत तृषितेषु तदात्वजात-मन्येषु केषु न पयः कलशस्तनोत्थम् ? ॥ १४
शत्रुञ्जयाद्रिमुकुटस्य पुरो जिनस्य, ते**नेन्द्रमण्डप**मिदं तदकारि किञ्चित् ।
अप्येकवारमधिगम्य जना यदन्त-र्जन्मान्तरेऽपि न भजन्ति कदाऽपि तापम् ॥ १५
अत्र व्यधापयदयं नव**मुज्जयन्त-श्रीस्तम्भनाधिपजिनाधिपचैत्ययुग्मम्** ।
तत्केतुकैतवकरद्वितयेन कीर्ती, **रम्येन्द्रमण्डप**शिरोभुवि नृत्यतीव ॥ १६
लक्ष्मीर्मयाऽवलगिता जगदेकभर्तु-र्भक्त्या ततोऽवलगयेयमिमां च देवीम् ।
वाग्मूर्तिमत्र रचयन्निति स स्वमेक-माकल्पमीशमपि वाग्मिनमभ्यशंसत् ॥ १७
मूर्तीर्विधाप्य निजपूर्वजपूरुषाणां, तेनात्र नित्यरुचिपद्मनिभैस्तदास्यैः ।
या प्रीणिता रजनिमीलनशीलपद्म-दुःस्था किमेनमपि मुञ्चति साऽपि लक्ष्मीः ? ॥ १८
मूर्तित्रयं हरिकरिस्थमपूरि **तेजः-पालस्य वीरधवलस्य** तथाऽऽत्मनोऽसौ ।
सन्नद्धमुद्धुरकलिप्रलयाय मूर्त-मध्यं युगत्रयमिवात्र पवित्रदेशे ॥ १९
चत्वार्ययं चतुरधी**रवलोकना-ऽम्बा-प्रद्युम्न-शाम्ब**शिखराण्यवतार्य तत्र ।
तज्जन्मकीर्तिनिवहस्य चतुर्मुखत्वाद्, धातुः श्रियं निदधतोऽपि बभूव धाता ॥ २०
आलोक्य वीक्षितपुरातनभूपभक्त्या, चैत्यश्रिया जिनपतेस्तमतीवभक्तम् ।
अन्तश्चमत्कृततया शिरसीव क्लृप्तौ, पाणी तदीयकृततोरणकैतवेन ॥ २१
श्री**सुव्रतं भृगुपुरा**दयमत्र मन्त्री, **वीरं** च **सत्यपुरतः** पुरतोऽवतार्य ।
ताभ्यां सदा विहितदीपमनोहराभ्यां, लोकद्वयीमपि मुदा विशदीचकार ॥ २२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भामण्डलप्रतिनिधिर्विदधे जिनेन्दो-र्यस्तेन तत्र मणि-काञ्चनपृष्ठपट्टः ।
तत्कान्तिभिर्निर्दलितेषु तमस्सु चैत्ये, दीपा जयन्ति यदि पूजनमङ्गलाय ॥ २३
यच्छातकुम्भमयतोरणकुम्भजातं, तत्राधरीकृतरविच्छवि तेन तेने ।
तेनायमद्रिपतिरुग्रतरप्रभावः, सम्भाव्यतेऽप्यहरहर्ज्वलदोषधीशः ॥ २४
यद्यम्बरे सुरगुरोरिव मे व्याधास्यद्, वेधाः स्थितिं तदहमत्र मुहुर्निरीक्ष्य ।
अभ्रंलिहाद्रिपतिमूर्धनि कीर्तनौघ-मेतेन कारितमसङ्ख्यमवर्णयिष्यम् ॥ २५
श्री**पादलिप्तपुर**सीम्नि सरः स चक्रे, यस्यातिरेकमधुरे लुठतीव तीरे ।
नित्यं नितान्तमधुरीभवितुं सुधाभुग्-भोग्यः सुधारुचिरपि प्रतिमामिषेण ॥ २६
एष स्फुरद्गुरुमुनिप्रसरामिहैव, स्वर्दण्डदर्शनपरां वसतिं वितेने ।
यस्यां यशःसितरुचिर्विशदः स कोऽपि, जज्ञेऽस्य यत्र विधुरेव बभूव चिह्नम् ॥ २७
तत्र प्रपेयमपि तेन नवा वितेने, यां प्राप्य शीत-मधुरोज्ज्वलहारिवारिम् ।
पीयूषकुण्डहिमधामजमेव गर्व-सर्वस्वमन्यजगतोर्जगती बभञ्ज ॥ २८
माधुर्यधुर्यमतुलामृतकुण्डवृन्द-स्यन्दानुविद्धमिव यत्र जलं रराज ।
ग्रामेऽर्क**पालितक**नामनि तेन तेने, पातालमूलगतखातगुरुस्तडागः ॥ २९
श्री**स्तम्भना**ख्यपुरतीर्थपतिं विधाप्य, **शत्रुञ्जयाचल**जिनं च स **उज्जयन्ते** ।
द्वेधोत्थितैर्दिवि यशोभिरदादपूर्वं, द्वैराज्यदुःखममृतांशु-नभःश्रवन्त्योः ॥ ३०
स **स्तम्भना**भिधपुरेऽद्भुतमुद्दधार, श्री**पार्श्ववेश्म** किमपि स्मितवैभवं तत् ।
यत्रागतौ नवकृतप्रतिमाच्छलेन, कौतूहलाद् **विमल-रैवतका**द्रिदेवौ ॥ ३१
तेन प्रपाद्वयमिहाधटि **पार्श्व**पार्श्व-स्थित्यैव तादृशगुणप्रगुणं किलैतत् ।
छायामनोज्ञममृताभजलं बिभेद, तापं बहिःस्थमबहिःस्थमपि प्रजायाः ॥ ३२
श्री**वैद्यनाथसदनात्** किल **मालवेशो, दर्भावती**भुवि जहार सुवर्णकुम्भान् ।
श्रीकेलिवेश्म सचिवस्तु स **वस्तुपाल**-स्तस्मिन् दधौ दिनपतिप्रतिमत्विषस्तान् ॥ ३३
चक्रेऽ**र्बुदा**ख्यगिरिमूर्ध्नि निजाग्रजन्म-श्री**मल्लदेव**सुकृताय स **मल्लिदेवम्** ।
तद्देहदीधितिभिरञ्जनमञ्जुलाभि-र्लक्ष्मायितं भृशममुष्य यशःशशाङ्के ॥ ३४
शक्तः क्व वक्तुमहमल्पमतिर्बहूनि, श्री**वस्तुपाल**सचिवेश्वरकीर्तनानि ? ।
यत्सङ्ख्यया दिवि विधिर्व्यधितोडुबिन्दून्, शीतांशुना खटिकयैव फलानि दातुम् ॥ ३५
ईदृग्मन्त्रिकिरीटकीर्तनघटासङ्घट्यमानैर्मुहुः,
कीर्तीनां निवहैरहम्प्रथमिकावष्टम्भसंरम्भिभिः ।
सन्मानाधिकवर्धनव्यसनिभिर्मन्ये विभिन्नं नभः,
स्वर्दण्डच्छललक्ष्यमाणविशदप्रस्फोटरेखास्पदम् ॥ ३६

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

किञ्च—

विश्राम्यन्तु भुजङ्गराज-रजनीजीवेश-राजीविनी-
जीवातु-स्तनयित्नवो ! नवनवप्रीत्या भवन्तश्चिरम् ।
उत्तम्भं भुजया यशोभिरमलं दीप्रं प्रतापैर्द्विष-
द्वाष्पैः सिक्तमिदं तनोतु भुवनं श्री**वस्तुपालः** सदा ॥ १

विश्वं न स्यादनीदृग् निखिलमपि कदाऽप्येष लोकप्रवादः,
कल्पे कल्पे ततस्त्वं मदयसि विदुषो लब्धपुण्यावतारः ।
कल्पद्रुः कामधेनुस्त्रिदशमणिरपि श्री**वसन्त !** श्रवन्ती-
भूयाम्भोधिं गतानामिति भवति भवद्दानवारां विवर्त्तः ॥ २

स्फूर्जत्फेनावलिवलयितोत्तालकल्लोलमाला-
लीलालोलजलधिवलयव्याजतो **वस्तुपाल** ! ।
क्रीडन्त्येता रणभुवि भवत्कीर्तयः **स्तम्भतीर्थ-**
प्रान्ते प्रीतिस्तबकितरसाः शङ्खदुष्कीर्त्तयश्च ॥ ३

विश्वेऽस्मिन्**नरिसिंह**कोविदकृतप्रौढप्रबन्धाद्भुत-
श्रीमन्त्रीश्वर**वस्तुपाल**यशसी पीयूषपूरोपमे ।
एते हर्षवशादशेषविबुधैरास्वादनीये मिथः-
सङ्क्रान्त्या क्षणलब्धसिद्धिविभवे यावज्जगन्नन्दताम् ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्**नरिसिंह**विनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्य**मरपण्डितः** ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये सकलकीर्त्तन-
कीर्त्तनो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवकविविरचित–

कीर्त्तिकौमुदीमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः ।

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
अकल्पयदन	२६	१८	अनेन सत्यापित	७३	४१
अकारयदयं	३२	१८	अन्धा एव	३७	३५
अक्षेषु नित्यं	९	३७	अपरोऽपि विधास्यते	७७	२१
अगस्तिभिः संव्यव	६९	३२	अपारपौरुषो	२५	८
अग्रे शङ्खचमू	१७	२३	अपि तादृश	१०	३०
अथ गूर्जरराज	४२	१८	अपि भ्रूपल्लवो	४२	२४
अथ गोद्रहलाट	५७	१९	अपूर्वं तस्य	४३	१४
अथ चेतसि	७८	२१	अपूर्वं मन्त्रि	४८	१४
अथ चौलुक्य	१	७	अपूर्वः कोऽपि	१३	१३
अथ तत्रैव	६२	९	अप्यरातिशिरा	८०	१०
अथ दशरथकल्प	११५	१२	अभिरामगुण	२३	८
अथ धर्मैक	१८	३४	अभ्यर्च्य भक्त्या	७१	४१
अथ पाथोजिनी	१	३४	अभ्यर्थ्यमान	१५	३८
अथ सचिवमवश्य	९१	२२	अभ्रंलिहप्रस्थ	५१	४०
अथ स व्यथितोऽपि	८०	२१	अमर्षणं मनः	२७	८
अथाशिषः सैष	३५	२८	अमात्यमत्यर्थ	४५	२९
अथैकदा कन्द	८३	१०	अमात्यमालोक्य	७	२६
अथोज्जगाम वामत्वं	८	३४	अमी सुमनस	४२	१४
अथोज्जगाम सामन्तः	२७	३०	अमृतैर्मानसं	३३	४
अथोदयति	१	३०	अमेयमहिमा	१७	१३
अथोष्मणि ग्रीष्म	४१	२९	अयं जगति	३९	१८
अधरैरधरी	७३	३३	अयि वेत्ति भवा	७५	२०
अधित्यकाधिष्ठित	५४	४०	अरातिराजन्य	८२	१०
अध्वश्रमध्वस्त	२४	३८	अर्जितास्ते गुणा	२८	४
अनल्पाक्षीभि	४५	३१	अलघुलहरि	८०	६
अनिच्छतीनां निज	६२	३२	अवधीरितधान्य	४५	१८
अनुक्रमेण,	१७	३८	अवनमदमृतां	८१	३३
अनेकानोकहच्छन्ना	५०	५	अवनिपतिरनेन	७९	१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०
अवलेपमलीक	७९	२१
अवलोकितमात्र	७१	२०
अवलोक्य चुलुक्य	६२	२०
अवश्यं नश्वरे	४६	३५
अवाञ्छितानि चापानि	२६	२४
अवाप्तवेदाम्बुधि	१००	११
अविद्यामेव	५२	३५
अश्रुप्रवर्त्तकधूमै	३४	४
अश्वराजात्मजा	४१	१४
असङ्ख्यहरि	२६	८
असतोरबलं	५८	१९
असौ गुणीति	१८	७
अस्ति हस्तिमद	४८	५
अस्मान् सुखेनो	९	२६
अस्मिन् कलौ	३६	४
अस्मिन्नसमया	४२	४
अस्य प्रभोः पितु	७६	४२
अहङ्करोति नात्मानं	३५	१४
अहिंसाभङ्ग	३६	२४
अहिंसाव्रत	३५	२४
अहो ! देहभृतां	४२	३५
अहो ! संसार	२५	३४
आकल्पिता शोभित	५५	३१
आकारितस्तेन	५	३७
आकाशमिव चन्द्रेण	६८	९
आकृतिर्गुण	५९	१५
आगत्य स्वपुरं	७७	४२
आत्मानमात्मजे	७७	१०
आत्मानमानत	७४	४२
आददानाः पयः	३१	१८
आदावेव	३९	३५
आनीतवानीसे	११२	१२
आनीतं न्यायतो	१९	१३

	श्लो०	पृ०
आभाति यस्य	७३	६
आरुह्य सह्यादपि	२२	३८
आलिङ्गितः समे	२२	३४
आलिङ्गितायाः सुभ	७५	३३
आवयोस्तु पितृ	६२	१५
आवर्जिता जिता	२	७
आविर्बभूव	२८	३१
[आविष्ट इव]		२३
आशायामशिशिर	५६	२९
आ सम्भवा	६६	९
आसाद्य कन्दर्प	७१	३३
आसाद्यते यया	३३	३५
आस्तां तावत्	४०	४
आस्वे सहस्तः स	९६	११
आह्वातुं विषम	७८	३३
इत्थं वदन्नथ	१०८	१२
इत्युदीर्य भुज	६६	१६
इयती मल्ल	२८	१४
उच्चैर्गर्वे	३०	३५
उदस्तहस्तैः	५२	४०
उद्गच्छतस्तव	१११	१२
उद्दामकामक्षितिपा	३०	२८
उद्दिश्यापि द्विषा	३८	२४
उन्मादं वीक्ष्य	३	३४
उपकण्ठमकुण्ठ	४८	१९
उपकर्ता सता	४६	१४
उपकृत्य कृती	४५	१४
उपरतसुरत	८०	३३
उपरुन्धन् विरुद्धानां	११	७
उभयोरनयो	५६	१९
ऋतुर्दिगन्ता	१२	२६
एकत्र स्फुट	८१	६
एकधारापतिर्यस्य	१७	७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
एकावली वक्षसि	५६	३२	कुर्वाणः किरणा	१४	३४
एकेन केशिरिपुणा	१०६	११	कुर्वाणस्त्वयि	९०	२२
एकैव जगृहे	३२	८	कुलमुज्ज्वल	४४	५
एतयोर्विनय	५७	१५	कुलायमाकुलाः	११	३०
कणेहत्य चको	३५	३१	कृतविश्वमुदा	७९	१०
कथं न विश्वैक	३४	३९	कृतहारानुकारेण	४९	५
कथितारिविचारेण	१	२३	कृतासनं तन्मणि	८८	१०
कदाचिदपि	९	१३	केकिपत्रमय	६	२३
कदाऽप्युदयति	४	३४	केचित् कुलं	५०	२९
कन्दर्पकेलि	७०	३२	केचिद् द्युम्नाय	२६	३४
कबरीकैरवा	५०	३१	केनाऽप्यन्येन	१२	१७
करं चिक्षेप	५	३४	कोकद्वन्द्वं तदा	२	३४
करवालजलैः	४४	८	कोऽप्यपूर्वः	६	१७
कर्णे लगद्भि	२८	२४	कौरवेश्वरसैन्यस्य	६४	५
कलयति कलशो	६६	३६	क्रीडावतीनां नगरा	१०३	११
कवीन्द्रशैलेन्द्र	५१	२९	क्रूरैर्ग्रहैरिवा	१०	१७
कवीन्द्रश्च मुनीन्द्रश्च	२२	४	क्व गतः सविता	१९	३०
कवीश्वराणां	५२	२९	क्वचित् तटीः	४५	४०
कस्यासि काऽसि	९१	१०	क्षितिपान्तरविग्रह	५५	१९
काण्डानां सह	२७	२४	क्षितिवलय	६१	३६
कायः कर्मकरो	४८	३५	क्षिप्त्वा धारापतिं	३१	८
कालिदासः कवि	१२	३	क्ष्मातलक्षेप	५६	२५
कालेन करवालेन	१३	७	खड्गिनः खड्गिभिः	३२	२४
कालेन शौनिके	४७	३५	खिन्नाध्वनि श्रोणि	३१	२८
किं नेत्रमार्गेण	६८	३२	गणेशस्येव यस्या	३७	८
किन्तु विज्ञपयिता	७२	१६	गते भानौ	१६	३०
किमस्तु वस्तुपालस्य	३१	१४	गम्यः सोऽपि	२	३०
कुचौ सुवृत्तौ	५४	३१	गवलकुवलय	६८	३६
कुटजविटपिनः	६२	३६	गीतानि जैना	१६	३८
कुत्रापि श्रुति	५२	५	गुरुणा विक्रमे	२०	७
कुपितः करवालेन	२	२३	गृहमारभते	४४	१८
कुरङ्गनाभीकृत	५८	३२	गृहीतभूरिदण्डानां	६६	५
कुर्वन् गिरिभुवि	२	३	गृहीता दुहिता	२८	८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
गृहे गृहे धातु	२	२६	जितं लक्ष्मि ! त्वया	३१	३५
ग्रहैः शुभैः सत्य	३२	२८	जीवनाय मनु	७१	१६
घनमयसमया	६४	३६	ज्ञानाढ्यं यस्य	३८	१८
घनैः प्रसूनै	६६	४१	ज्योत्स्नाजल	४६	३१
चकार तारिका	२९	३१	झटित्यागत्य	७	२३
चकार देवी	३८	२९	तं गोत्रमुख्यं	६१	४१
चकोरचक्र	१२	३४	तं राजवीथ्या	१७	२७
चण्डद्युतौ मण्डयति	४२	२८	तटस्थः प्रेक्षते	५३	३५
चन्दनाऽगरु	१२	२३	तत्कर्णार्जुनयो	२२	८
चन्दनैश्चर्चितेव	३८	३१	तत्कालमुन्मीलित	३३	२८
चन्द्रशालासु बालानां	५१	५	तत्पुत्रः प्रसरत्	६७	९
चलन्मन्त्रिबलो	२१	३३	तत्र तौ ददृशातुः	५३	१५
चाणक्यादिव	५	१३	तत्रादिनाथस्य	२५	३८
चापलादिव बालेन	५७	९	तत्राऽऽहवमहा	२९	२४
चिकीर्षिता श्रीस	१	३७	तदवेत्य जवेन	४७	१८
चुलुकोद्भवभूपते	६७	२०	तदा तदालोकन	२१	२७
चूडारत्नप्रभा	४७	८	तदुपेहि पतिं	८८	२१
चौलुक्यचन्द्र	६३	२५	तद्गुणान् निपुणया	५२	१५
छत्रच्छाया	४३	३५	तद्दर्शिनीनां हृदि	२६	२७
छन्दःशास्त्रे श्रुता	४०	१४	तद्भूश्चण्डप्रसादो	८	१३
जगति ज्वलिता	६१	१९	तनयः पितृवित्त	८७	२१
जगदे जगदेक	८१	२१	तन्मां स्वचक्र	१०५	११
जघ्ने येनासि	६९	९	तमन्तकमिवा	४३	२४
जटा-सीमन्तकान्तं	३	३	तमन्तिके यान्त	१९	२७
जनन्या जठरे	२१	१३	तमन्यमिव	५	१७
जनितार्जुनतेजस्कं	१४	३	तमुज्जयन्ता	३८	३९
जनेन मेने	३५	८	तरणेरिव सिन्धु	८२	२१
जयन्ति कवयः	८	३	तरुणे तारका	४१	३१
जवेन यान्त्या	२०	२७	तलब्धं मल्ल	२७	१४
जातशैत्यश्चल	६२	५	तस्करैर्वा	३६	३५
जानेऽद्य विद्याधर	८७	१०	तस्मादमात्य	३७	१४
जामदग्न्य इवो	५४	९	तस्मान्निरन्तर	१८	१३
जायते जलदवृन्द	६९	१६	तस्मिन्नथ कथाशेषे	६	७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
तस्मिन् वने	५५	२९	दिङ्मण्डली	८	२६
तस्य निर्दलित	५६	१५	दिनाधिनाथेन	५८	४०
तस्य भ्रातृसुतः	१५	७	दिवं गतास्ते बत !	९३	११
तां सप्तलोक	३६	२८	दिवि स्वर्वाहिनी	३४	३१
ताः प्रपाः कारिता	३३	१८	दीपका अपि	२०	३०
ताडपत्रिश्रिया	५३	३१	दीपप्रभापिञ्जरि	५७	३२
ताभ्यां कल्याण	२	१७	दीर्घैर्निदाघस्य	४४	२८
ताम्बूलवस्त्रा	६०	३२	दुःखाग्निर्वा	५१	३५
तावुपायनमुपाय	५३	१५	दुग्धेन दध्ना	३७	२८
तीक्ष्णैः सपदि	७	३४	दुर्जनानां द्विजिह्वत्व	४१	४
तीर्थैः समग्रै	४३	३९	दुर्जनैस्तर्ज्यमानस्य	३९	४
तुरङ्गमाणां चर	३९	३९	दुर्वापुष्पफला	७८	४२
तेजःपालः पुन	३९	१४	दृप्यद्भुजाः क्षितिभुजः	११३	१२
तेजस्तदिह	७१	९	दृष्टिर्नष्टा भूपतीनां	७५	१६
तेन वैनतनया	५५	१५	देव ! सेवकजनः	६७	१६
तेनाङ्गना प्रत्यव	२२	२७	देवेन्द्रं स्तुवत	२३	३४
तेनोपुनी तैर्धन	७२	४१	देवोऽयं भुवन	८३	३३
ते राजानः स्वर्गता	७४	१६	दोषज्ञैस्तेन	३८	४
त्रिपुरी विपरीतश्री	५८	५	द्रुतमुन्मूलिते	५९	९
त्रैलोक्यदीपके	१५	३०	द्वित्राणि तत्रैव	३७	३९
त्वचि साराः	२	१३	द्विषां शीर्षाणि	२९	८
दक्षिणः क्षोणि	७५	९	धनस्याधर्म	३२	३५
दक्षिणक्षितिपं	४९	९	धनी धनात्यये	३८	३५
दक्षिणेनांह्रिणा	१४	२३	धर्मक्रियाविस्मृत	६९	४१
दण्डे मण्डपिका	५३	९	धर्मसिद्धौ ध्रुवा	२९	३४
दत्तचित्तप्रसादेषु	५४	५	धर्माय निर्माप	३१	३९
दत्ते स्म तेभ्यः	५३	२९	धर्मैकमित्रोप	२	३७
दत्त्वा दानानि	२४	३४	धवलस्य सुतेनापि	६३	९
दयिता ललिता	३६	१४	धात्रा स्थानेषु	१८	१७
दर्शयन् सुमनो	२९	१८	धान्यैर्धन्यमिव	९	१७
दलितेऽपि दले	६९	२०	धाराभङ्गप्रसङ्गेन	३३	८
दानानि ददतो	५५	९	धूलिध्वान्तोदये	२२	२३
दानोपद्रुतदारिद्र्यं	५	७	धूतपार्थिवनेपथ्ये	५६	९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
धौतेव सुधया	५३	५	नीलनीरद	५८	१५
न केवलं केवलि	२८	३८	नीलाब्जमधु	४४	३१
न केवलं मही	४२	८	नुत्या च नत्या च	४०	२९
न केवलं शैल	६३	४१	नैवेद्यवृन्दै	३९	२९
न चौरास्तस्य	७०	९	न्यायं निवेशयन्	३	१७
न च्छिद्रं क्षुद्र	६	१३	न्यासीकृताः	१०	३४
न तद् वनं	५६	४०	पतिरतितपति	५९	३६
न पुष्पचापादपरो	२४	२७	परा स्मरावेश	२३	२७
नमन्नमन्दप्रतिभः	७०	४१	परिजनैः प्रथमं	७४	३३
न माघः श्लाघ्यते	२६	४	परिपन्थिवरू	४९	१९
न मानसे	७८	६	पश्यतः सचिवं	६१	३५
न मित्रमन्तरे	७	३०	पाणिपङ्कज	८	७
न मृगाङ्के	३३	३१	पाथेयवन्तः पथि	४	३७
नररत्नैर्यदुत्पन्नै	३	१३	पादलग्नैर्महीपालैः	५१	९
न राष्ट्रकूटान्वय	९८	११	पित्रावैरुप	३५	३५
नरो न रोगापद	४०	३९	पित्रा विचित्र	११४	१२
नवं वयश्चित्त	६१	३३	पीयूषपायसै	३९	३१
न वाहनं यस्य	११	३७	पीयूषबिन्दुप्रसवं	११	२६
न संसारस्य	४०	३५	पुंश्चलीनां तप	३०	३१
न सर्वथा कश्चन	७६	१६	पुण्डरीकं दधत्येकं	७२	९
नानर्च भक्तिमान्	४०	१८	पुण्ड्रेक्षवः क्षीणरसाः	१४	२६
नास्ति तीर्थमिह	७०	१६	पुरं रोगैरिव	११	१७
निगदितुं विधिना	७९	३३	पुरः प्रशस्तां	७	३७
निदधे गुण	१४	१३	पुरतः सरतो	६०	१९
निदानं नात्र	३७	४	पुरतो यदि	५९	१९
निपुणोऽसि गुणेषु	७४	२०	पुरप्रजानां	५	२६
निरन्तरं सञ्चरतां	१०२	११	पुरश्च पृष्ठेऽपि	१८	३८
निशासु नीच	१४	१७	पुरस्कृतस्यास्य	८६	१०
निशासु यस्मिन्नव	५३	४०	पुरस्कृत्य न्यायं	७७	१७
निश्चला कस्य	९	३०	पुरान्तराणि निर्जित्य	५९	५
निष्काश्य कामः	६७	३२	पुरुषाणामिमा	२५	१४
निस्वाननिस्वना	८	२३	पुरो मन्दरवद्	७४	९
नीरन्ध्रेणान्ध	२४	३०	पुलिनपरिसरे	६०	३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
पूर्वे सर्वेऽपि	३८	१४	बहुभिः सह	८५	२१
पृथुप्रभृतिभिः	४१	८	बाहुभ्यामिव	७८	१०
प्रकल्पितायां क्षिति	४९	२९	बिभ्राजे भुजगा	१७	३४
प्रकाश्यते सदा	२७	४	बिल्हणस्य कवेः	१७	४
प्रचुरं तदराति	५१	१९	भटा भुवन	१६	२३
प्रज्ञामाङ्गिरसा	४५	५	भवमवरमिमं	५८	३६
प्रतापः प्राप	८	३०	भवार्णवतरी	३४	१८
प्रतापिनः पल्लवित	१०	२६	भाति यत्र	६७	६
प्रतितटघटितो	७९	६	भान्ति देवालया	६१	५
प्रतिनृपतिभिर्भग्नो	६८	२५	भाले तस्य	२१	३४
प्रत्यावृत्तिः कृत	१३	१७	भासः सेव्याः	६९	३६
प्रदोषानन्तरं	२२	३०	भित्त्वा भल्लीभि	६०	२५
प्रबुद्धमात्रोऽपि	८४	१०	भीमसेनेन भीमो	६०	९
प्रभुप्रोत्साहनं	३७	२४	भुङ्क्ते स्म सर्वेष्वपि	१२	३७
प्रभूतभोज्यानि	१३	३७	भूपालोऽजयपालो	५२	९
प्रभूतमपि तत्	२३	२३	भूमिभर्तुरथ	५१	१५
प्रभोः सपर्या	६७	४१	भूयान्मुदे तदेकं	४	३
प्रयोजकान्य	४९	३५	भृकुटीघटना	३	२३
प्रविवेश पुरे	७	१७	भृगुकच्छमही	५३	१९
प्रसरत्यथ मत्सर	५४	१९	मण्डलाग्रेण यः	१६	७
प्रसर्पतः प्रोषित	१६	२७	मत्पितुर्भुज	६५	१५
प्रसारितकरे	१३	३४	मत्सरज्वर	२०	३४
प्रसूतेऽथ मही	६६	२०	मदाकुलानि प्रमदा	७२	३३
प्राक्कृतां रेणुका	२०	१३	मदान्धास्ते	४४	३५
प्राणेभ्योऽपि प्रियं	५७	२५	मधुना लसदुत्कर्षां	९	३
प्रासादसौन्दर्य	३२	३९	मनागनालोकित	४२	३९
प्रासादास्तेन	२४	१७	मनीषिणां मानस	५४	२९
प्रियं विक्रामतां	५१	२४	मनोरमाकार	१८	२७
फलानि पुष्पाणि	५९	४१	मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च	६१	९
बकपाटकचेष्टितं	८६	२१	मन्त्रिमण्डल	४	१३
बभूव देवेषु	३	२६	मन्त्री तदासाद्य	४३	२८
बभूव भूपति	१२	७	मन्त्री यद्यपि	९	२३
बलवारिधि	५०	१९	मन्त्रीशाकर	३३	२४

	श्लो०	पृ०
मन्त्रीशगुणमाणिक्य	४७	५
मन्त्रीशमालोक्य	२७	२७
मन्त्रीश्वरोऽयमनु	६४	२५
मन्ये मनसि	३४	१४
मरीचिनिचये	३६	३१
मलिनीभव	९	३४
महतां वर्त्तमानानां	२३	१७
महीमण्डलमार्तण्डे	४०	८
माणिक्यमुक्ताफल	५९	३२
मानार्गलां काऽपि	६५	३२
मानी नामन्यत	७	१३
मालवस्वामिनः	३०	८
मालिन्यं मार्जया	३१	३१
मित्रेऽस्तमागते	६	३०
मुक्त्वा निःश्रीक	१४	३०
मुख्यः श्रीमल्लदेवाख्यः	२४	१४
मुण्डेव खण्डित	१०४	११
मुनेर्विजयसेनस्य	२३	४
मृदुर्वाणी मति	१०	१३
मैरेयपानच्युत	७७	३३
मोदमानोऽन्त	२७	३४
यः पराभूत	११	१३
यच्छिन्नम्लेच्छ	५८	९
यत्र नारीमन	६३	५
यत्र यत्र	६८	६
यत्र सौधांशु	५६	५
यदि सम्प्रतिपत्ति	७६	२१
यदुत्तमाङ्गस्थित	३३	३९
यद्यप्यनुपमा	४९	१४
यन्न्यूनं यत्र	२५	१८
यमुनेव मधूपघ्नं	६०	५
यस्मिन् विदग्धा	५५	४०
यस्मिन् सदा	५७	४०

	श्लो०	पृ०
यस्मिन् सन्निहिते	४८	३४
यस्मिन् सरो	७२	६
यस्मिन् होमानलो	५५	५
यस्य पौषध	३७	१८
यस्य राजपथे	६५	५
यस्यान्तर्गिरिशा	७४	६
यस्योच्चैः सरस	७५	६
यातः शीतरुचिः	८२	३३
यात्राप्रसङ्गेन	१४	३८
यामिन्यामिन्दु	५१	३१
या मूलराजान्वय	१०१	११
यावन्ति बिम्बानि	२०	३८
युक्तं कादम्बरीं	१५	३
युष्मादृशामसदृशा	११०	१२
येन केन च	६४	१५
येन पौषध	३६	१८
येन विश्वैकवीरेण	३६	८
ये मन्त्रिणो येऽत्र च	९५	११
येषां निमेषार्द्धे	४	२६
योऽयं जीवित	५०	३५
यो वर्त्तते संप्रति	९४	११
यौवनेऽपि मदना	६१	१५
रचितोपक्रमे	२५	३०
रजोभिः समरो	३९	८
रत्नप्रदीपेषु	५०	४०
रथानथानन्द	३	३७
रथैस्तुरङ्गैः	१०	३७
रमयत्यखिला	४२	३१
रमयन्ति न कं	३२	४
रमयन्ति मन	४१	३५
रम्भासम्भाविते	२७	१८
रसालङ्करणे	१	१३
रागाद् भूपाल	४८	९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०
राजन्य ! धन्यतम्	१०९	१२
रिपुसैन्यनिवेश	५२	१९
रीणान् धुरीणान्	६२	४१
रुषा स्मितमुखः	४	२३
रूपेणाप्रतिमाः	७०	६
रेमे न रम्येऽपि	३४	२८
रोहिणीरमणं	२६	३०
लग्नः पादेषु	४९	३१
लङ्का शङ्काब्रवी	५७	५
लज्जावती तं प्रति	२५	२७
लभन्ते लोकतः	४१	१८
लाटेश्वरस्य सेनान्य	३	७
लावण्यसिंहनामानं	५०	१४
लीलावनेऽस्मिन्	४७	२९
लोकत्रयो	९	७
लोकेऽस्मिन्नव	२२	१७
लौहित्यं विद्रुमा	३	३०
वशो विक्षिप्य	३१	२४
वचनं धनपालस्य	१६	३
वधूनां वक्त्र	५२	३१
वनान्ताद् बल	१२	३०
वन्द्यास्ते कवयो	७	३
वलक्षेगोत्त	१९	३४
वलितेऽपि चुलुक्य	६३	२०
वस्तुत्वं वस्तुपालस्य	२९	१४
वस्तुपालयशोवीरौ	२९	४
वात्ययेवोन्नतिं	४७	१४
वाहिन्योस्तत्र	२५	२४
विकारवर्जितं	६२	२५
विकासवद्भिर्व्रतति	४७	४०
विचिन्वता रुचिं	६५	९
विच्छायास्तिमिरे	६	३४
विदलितजग	६३	३६
विद्युदञ्चलचला	६३	१५
विद्वानपूर्वः सित	६३	३२
विधुरेऽपि न	७२	२०
विधूता विश्व	४८	३१
विधूतेऽपि सुते	७०	२०
विधौ विध्यति	५६	३५
विना कर्णेन	२१	७
विना जगदेव	९९	११
विपरीतमतित्व	८४	२१
विभाव्य तम	४०	२४
विभिन्नयोरह्नि	३४	३२
विभ्यमः कुल	५९	२५
वियति प्रेक्षमाणाभि	४६	२४
वियोगव्यथया	५	३०
विरक्तश्चेद्	१३	३
विरच्यमाने सचि	२७	३८
विरोधिवनिता	७	७
विलासवेश्माङ्गण	६६	३२
विलोक्य वस्तुपालस्य	४६	५
विलोललोचनाः	१५	३४
विवृतिर्विश्व	११	३४
विषमेऽपि कथं	७३	२०
विषयामिष	५४	३५
विसृज्य पूजामथ	८९	१०
विस्फुरत्तीव्रहेतीनां	६४	९
विहाय शरधिं	३०	२४
विहारं कुर्वता	५०	९
वीक्षिता वलित	६९	६
वीरः सङ्ग्राम	४१	२४
वीरः समर	८१	१०
वीराणां पाणि	३४	२४
वृद्धिं न्यग्रोध	३२	१४
वृश्चिकानां भुजङ्गानां	३५	४
वैरिणामपि वीरेण	५३	२४
व्यावर्त्तमानमथ	७६	४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०
व्याहृत्य कृत्यमिति	१०७	१२
व्योमाङ्गण	३२	३१
शङ्खपत्तिर्जयन्तश्च	५२	२४
शङ्खेन खड्गघातै	४८	२४
शस्त्रैः शस्त्रेषु	४५	२४
शान्तध्वान्त	३७	३१
शिरीषपुष्प	६	२६
शिशुनाऽपि शुना	२४	८
शुभस्वभाव	४४	१४
शुशुभे दिक्षु	४	३०
शूराणां सम्मुखा	४५	८
शृङ्गैरुदग्रैर्दिव	४४	४०
शैलोपकण्ठे	३६	३९
श्मशाने यातु	३८	८
श्रिये सन्तु सतामेते	१	३
श्रीखण्डमत्युत्सुकया	२८	२७
श्रीनाभिसूनु	२९	३९
श्रीनेमिनाथा	६८	४१
श्रीनेमिनाथेन	६०	४१
श्रीनेमिनामान	६४	४१
श्रीप्रह्लादनदेवोऽभूद्	२०	४
श्रीभोज-मुञ्जदुःखार्त्ता	२१	४
श्रीवस्तुपालेन	१	२६
श्रीवीरधवल	७६	१०
श्रीवीरनृप	१५	२३
श्रीवीरस्य धरो	१	१७
श्रुतसिङ्घनसैन्य	४३	१८
श्रुत्वा भुवम	५०	२४
श्रुत्वा वचः सचिव	८९	२२
श्लाघ्यतां कुल	६०	१५
श्वेतांशुतुल्यं	९०	१०
षड्भिरेव गुणै	३३	१४
संवीक्ष्यं वीररस	६६	२५
संशोषिताशेषनदे	१३	२६
संश्लिष्टमष्टापद	२६	३८
स एव घर्मांशु	४८	२९
स कर्दमैस्तस्य	२३	३८
सकलमपि वपु	७६	३३
सखा शङ्खस्य	४४	२४
सङ्ग्रामसिंहं स	६५	२५
सङ्गृहीतानि हारीत	२८	१८
सचिववचन	७८	१६
स चौलुक्यनृपा	२१	२३
सततं सचिवश्रेणि	२२	१४
सत्यं संसृति	५५	३५
सदा हृदि वहेम	१८	४
स नमस्यः	११	३
सन्दोहैरिन्दु	४०	३१
सन्धाय बन्धु	३७	२५
सन्नद्धसैनिकः	१०	२३
सन्नाहः सङ्गरा	१३	२३
स पञ्चषैर्निर्विषम	२१	३८
सपत्राकृतशत्रूणां	४	७
स प्रतस्थे	५	२३
सप्रसादवदनस्य	६८	१६
समं समग्रैरपि	६	३७
समन्ततोऽपि काष्ठानां	१३	३०
समन्ततोऽपि सामन्त	७३	९
समरैकरतेरमुष्य	८३	२१
समासन्नेऽपि	१८	२३
समीपमाजग्मुषि	२९	२७
समुद्धृतैर्जीर्णे	१९	३८
समुपैति यथा	४६	१८
समेत्य सोमेश्वर	८५	१०
सम्भूतकम्पे	१०	७
सरसिजसुरभिः	६५	३६
सरस्वतीं सदा	६	३
सरांसि राजन्नलिनी	४८	४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०
सरांसि राजहंसा	३०	१८
सर्वत्र व्यक्त	४७	३१
सर्वत्रोच्छ्वसितं	१५	१७
सर्वथाऽनुप	१४	७
स वीरो मन्त्रि	४९	२४
सशङ्खचक्रः	७७	६
स श्वेतपीतै	३०	३९
स सन्ध्यावासरं	१८	३०
सहजा इति	६५	२०
सांयात्रिकजनो	१६	१७
सा गता शुभमयी	७३	१६
साधूनां लुब्धता	३१	४
सान्द्रे चन्द्रातपे	४३	३१
सामन्तमन्तक	४७	२४
सारस्वतमयं वन्दे	५	३
सावित्रं बिभ्रता	१६	१३
सिताम्बरं मन्त्रि	४६	४०
सुकृतैकरते	४३	८
सुखं विषय	४५	३५
सुखेन सार्थः	४१	३९
सुचिरमिति	५७	३५
सुधेव वसुधा	३४	८
सुपर्णकेतना	१९	७
सुभटासृक्	३९	२४
सुभटेन पदन्यासः	२४	४
सुभटैरपरै	६८	२०
सुरतव्रत	२३	३०
सोमः समुद्रत	१२	१३
सोऽस्ति कश्चन	४३	५
सौवस्तिको नास्ति	९७	११
स्तनितमुपरतं	६७	३६
स्तम्भतीर्थे स्थित	४	१७
स्तुमः सुमनसां	१९	४
स्तुमस्तमेव वाल्मीकिं	१०	३
स्थानभ्रष्टस्य यः	२१	१७
स्थितं पुरुषयो	३०	१४
स्थितं सङ्ग्रमुखे	१९	२३
स्थितः क्षणं क्षीर	८	३७
स्थितस्य यस्योप	४९	४०
स्थितेऽत्र सम्मुखे	२०	२३
स्थितेन तेन	२४	२३
स्थित्वाऽथ प्रस्थिता	१७	३०
स्थित्वा विपद्य	५४	२५
स्नात्रं स पात्र	६५	४१
स्नात्वा सरसि	७१	६
स्निग्धैः सम्भाषणै	२०	१७
स्पृष्टाऽस्पृष्ट	१७	१७
स्फुटं वेष्टयता	३५	१८
स्रष्टुः सृष्टि	२१	३०
स्वं मेने येन	१५	१३
स्वखड्गखण्डितै	५८	२५
स्वच्छं वारि	७१	३६
स्वयं शुद्धेषु	२६	१४
स्वयमुत्पादितां	३४	३५
स्वरक्षितस्याथ	१५	२७
स्ववाक्पाकेन	२५	४
स्वस्यानुजस्यापि	३५	३९
स्वाभाविकेन शौचेन	२३	१४
स्वामिना सप्रसादेन	१९	१७
स्वामिशत्रु	५५	२५
हंसानां नव	७०	३६
हट्टे हट्टे पटो	८	१७
हरप्रासाद	७६	६
हरितं परिहृत्य	६४	२०
हिमासहोऽयं	४६	२९
हृदि प्रविष्ट	४६	८
हृदि प्रियवियु	१६	३४
हे वीर ! वैरिध्वजिनी	९२	१०
ह्रदा यादःपरित्यक्ता	३०	४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिसिंहकविविरचित–

सुकृतसंकीर्त्तनमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः ।

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
अंसौ ते सचिवा	२३	१३१	अथाघशल्यानि	२६	११२
अकिञ्चनः कश्चन	४०	११४	अथाचलन् वायट	११	१११
अकृशैः कृशैश्च	८	१२२	अथादर्शि	१	१०४
अगण्यपुण्यैर्भव	३१	११३	अथानणुमणि	३३	१०५
अग्रेऽपि तत्र	६	१३३	अथानुचेलुर्नर	१०	१११
अङ्गमण्डन	३९	१२०	अथावनीशोऽजनि	१७	१०१
अजनि गिरिनितम्बे	३३	११७	अथाव्रजत् खिन्न	४०	११३
अजस्रमस्रैर्वन	९	१००	अथासितीव्रतव्रत	६	१११
अञ्जलैः शशिमुखी	४	११८	अथास्य सङ्घस्य	१७	११२
अटन्नटव्यां यद	११	१००	अथैष तीर्थङ्कर	४७	११४
अतिदूरतः	४७	१२८	अथोरुधामाऽजय	४४	१०३
अतुहिनमहसेव	९	११५	अदायि दीनाय	४८	११४
अत्युदारतर	३७	१२०	अदोषधीर्मन्त्रि	३	१११
अत्र व्यधापय	१६	१३४	अद्भुतप्रमद	१०	११८
अत्रापि तेन	१२	१३४	अनांसि धर्मक्षिति	४२	११३
अत्रैव साधुकृत	९	१३४	अन्तरायदलनाय	१३	११८
अथ कम्बुचिह्न	१०	१२२	अन्तर्वसद्भ्रन	१०	९६
अथ कल्पिताखिल	२८	१२३	अपरः पयोद	३३	१२३
अथ काननान्तर	४५	१२८	अपरः पिबन्नपि	३५	१२३
अथ कृततनुकृत्यः	५१	११४	अपरता परताप	२१	१२६
अथ केऽपि भक्ति	३१	१२३	अपरस्य वंश	३४	१२३
अथ गिरीश	१	१२५	अपि द्विषः प्राग	३२	१०२
अथ तं विलोक	३१	१३२	अपि वज्रभाजि	७	१२१
अथ तामसं	४१	१२४	अभाषिष्ट सभा	३७	१०५
अथ पृथुक	१३	१३०	अभिसेचनेन	५१	१२८
अथ पृथ्वीपतिं	१२	१०४	अभूत् तदा	१९	११२
अथ विस्मितदृग्	३२	१०५	अभूदथ न्यायपरः	१५	१०१
अथ सञ्चलन्न	११	१२२	अमुत्र शत्रुञ्जय	३७	११३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
अमुष्य सङ्घस्य	२७	११२	इति गद्गदाश्रु	२७	१२३
अलकलोल	२२	१२६	इति लक्ष्मीलतो	४४	१०६
अलभत बत !	२	११७	इति वर्णयन्नय	१७	१२२
अवतमसततीनां	३१	११७	इति वर्ण्यमान	३०	१३२
अवलोक्य कोऽपि	५०	१२८	इति श्रुत्वा नृप	२९	१०५
अवलोक्य धूप	१५	१२२	इति सम्मदेन	३७	१२३
अवाहनानामपि	२	१११	इत्थं गौरवगौर	४१	१३२
अशिथिलपदपातं	४	११५	इत्थं प्रेक्षणक	४३	१२०
असन्नं सन्नद्रे	२७	१३१	इत्थमद्भुत	१३	१०८
असौ भृशं सन्तत	२६	१३१	इत्यवेक्ष्य मुदितं	८	१०७
अस्थिराः करभिका	३५	१०९	इत्युक्त्वा मुदिते	५८	१०६
अस्मिन् कृतोऽस्मि	३८	१०५	इत्युदीर्य	२७	१०९
अस्यासीत् कोऽपि	५०	१०६	इदमभूद्	३	१२५
अस्याऽस्ति च	२४	१०५	इभकुलमिभमल्लो	१७	११६
अहनि दहनकीला	१२	११५	इमौ ग्रन्थाब्धि	५७	१०६
अहमिहारुण	१५	१२५	इयं सर्वाङ्गीण	१०	१३०
आकर्ण्य तूर्ण	७	९६	इष्टैः स्मृतैरप्यपरैः	३१	१०२
आकलय्य मुख	३२	१०९	इह सोमनाथ	३	१२१
आजन्म सद्म	४९	१०३	इहाथ पार्थस्तृण	३९	११३
आजन्मापि कृशा	२	१२८	ईदृक् कश्चिद्	२	११०
आत्मगोत्रगुरवः	१५	१०८	ईदृक्केलिरस	५३	१२८
आदेशपत्त्रमिव	३०	९८	ईदृग्मन्त्रिकिरीट	३६	१३५
आघात् पदे	३७	१३२	उच्चरणचार	३	१२४
आन्तरेण नयनेन	५	११८	उच्चैःपदं निज	८	१३४
आन्दोलयन्ति	२१	१३१	उडुगणमिष	१४	११५
आबभौ घन	२१	११९	उत्तानपट्ट	४	१३३
आरात्रिकं कृत	४२	१२०	उत्सुकैरथ जनै	१७	११९
आरोहवैभव	१०	१३४	उदितं प्रियेण	४२	१२७
आलोक्य वीक्षित	२१	१३४	उद्दामदानप्रसरस्य	२६	१०१
आसाद्य वीरधवला	१	१३३	उद्भ्रान्तैः सहसा	२	९९
आसीत् कुमारदेवीति	५३	१०६	ऊर्ध्वस्थितारातिं	१४	१००
आसीदथ प्रबल	३७	९९	ऋद्धिवृद्धिविशदेषु	४	१०७
आस्ते यावदखर्व	१	१२८	एतदाननविलासि	६	१०७
आस्थानमण्डप	६२	१०६			

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०
एनं प्रबन्धमय	४	१०४
एष स्फुरद्गुरु	२७	१३५
औत्सुक्यतः काचन	३४	१३२
औत्सुक्यभाव	३३	१३२
कटकस्थकानन	१६	१२२
कपोलयोरिवा	९	१०४
कमलकान्तिहरीं	१३	१२५
कमलकोमल	१२	१२५
करकिशलय	२	११५
कराग्ररोपणा	४	१०४
कर्पूरागुरुधूप	७	१२९
कर्मवैरिविजयाय	११	११८
कल्पान्तेषु यशोभरे	१	१०६
कल्पान्तोद्भ्रान्त	२	१२१
कविर्न को	४	११०
कस्यचिद्धरणि	३	१०७
काचित् तदा	३९	१३२
काचिद् भुजाभ्यां	४०	१३२
काव्यमेतदरिसिंह	४	१२१
का शक्तिर्युसदां	२२	१३१
किं सूते कर एव	४	१२९
किञ्च प्रपञ्चयत	६१	१०६
किञ्च स्वःसीम्नि	२८	१०५
किल जगति	२८	१३१
कीर्तिकल्लोलित	४९	१०६
कुङ्कुमाम्बुभि	३८	१२०
कुसुमायुधस्य	३९	१२४
कुसुमार्पणेषु	४०	१२७
कुसुमावचाय	३६	१२७
कृतकृत्य एव	१८	१२२
कृत्वैकमेव	३८	१३२
कोपे पावकतप्त	२०	१३१
क्रमकमलयुगे	२९	१३२
क्रमक्रमस्थापित	२८	११२

	श्लो०	पृ०
क्वचन भर्तरि	२२	१२६
क्वचिन्न भङ्गोऽस्य	१३	१००
क्षीरोदसोदरो	४६	१०६
क्ष्माखण्डमाखण्डल	८	१००
क्ष्मागतेन लघुकं	८	११८
खट्वाङ्गसङ्गत	४	९६
खरुचेर्विजयाय	२६	१२६
गतमदनमदानां	३	११५
गतोऽग्रतोऽस्मिन्	३२	११३
गम्यते तपन	२६	१०९
गिरिरेष सिन्धु	१३	१२२
गिरिशिरसि जितेशं	२१	११६
गिरौ गतिं पश्यत	४३	११३
गृहाण विग्रहो	३९	१०५
चक्रेऽर्बुदाख्य	३४	१३५
चञ्चत्काञ्चनकूट	२	१२४
चटुला नटी	३६	१२३
चतुर्दिगापूरण	१५	१११
चत्वार्ययं चतुर	२०	१३४
चलाचलायां भुवि	२५	११२
चलितसकल	२२	११६
चिरमुपचितहर्षः	१९	११६
चुलुक्यकुल	१५	१०४
चेद् योग्यताऽस्ति	२०	९७
जटालमौलिर्मृग	१२	१००
जनये जिन!	१९	१२२
जय जय नयशालि	१४	१३०
जलनिधिजल	३०	११६
जल्पतोर्जगति	२१	१०८
जल्पितानि बहुशः	४०	११०
जाड्यं जनेषु	१२	९७
जित्वा बलैर्मालव	२३	१०१
जिनमहमहिमानं	१	११५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
जैनं किलैनं	३	९९	त्रैलोक्यादुत्तमं	५२	१०६
ततः क्षितिपते	३४	१०५	त्वद्गुणान् गदितु	२६	११९
ततश्चतुर्विंशति	८	१११	त्वन्महोभिरहि	१२	१०८
तत्पदाम्बुरुह	२२	१०८	त्वं मनोभव	३१	१२०
तत्पदेऽतिविदित	१९	१०८	त्वां निरर्थकगिरा	२७	११९
तत्र तादृशि	२३	११९	दक्षः शास्त्रे च	४३	१०५
तत्र प्रपेयमपि	२८	१३५	ददता प्रसून	४१	१२७
तत्रावनीविभु	२७	९८	दधुरनङ्ग	८	१२५
तथाऽस्य तेजोभि	२	१००	दन्तदीप्तिपटल	३०	१०९
तदङ्गजो दिग्गज	४६	१०३	दयितमिति	३२	११७
तदनु प्रमोद	२९	१२३	दयितेषु तोय	४८	१२८
तदनु वदन	१	१२९	दल्यमानमस	१९	११९
तदपीयत श्रुति	२५	१२३	दानच्छटासुरभि	४०	९९
तदानीं दीनौघे	५	१२९	दानशीलतपसां	३४	१०९
तदाऽन्नपाकाय	४६	११४	दासः कैलासभूमी	४८	१०६
तद्भूः कीर्तिभरै	५१	१०६	दिक्पुरन्ध्रि	४२	११०
तद्भूश्चण्डप्रसादाख्यो	४७	१०६	दिनमयं नमयन्	३३	१२७
तन्महामति	२	१०७	दीर्घायुर्भवतादिति	१	९९
तन्वत्यथाहर्गमनं	३९	१०२	दुःषमाविषम	२९	१०९
तमीदिने व्यत्ययतो	१६	१०१	दुर्वारवारण	३१	९८
तयोस्त्रयोऽभवन्	५४	१०६	दुष्कर्माद्रिपविः	६	१२९
तरलतारलता	१६	१२६	दुष्टामात्यनिषि	१९	१०५
तरुणीसमागम	४६	१२८	देयाः स्वामिन्	४४	१२४
तस्माद् भुजङ्गेन्द्र	१०	१००	देवभक्तिभर	९	११८
ताडङ्कमेकं	३६	१३२	द्युमणिः क्षपा	९	१२२
तात ! ख्यातगिरः	१	१३३	द्युमणिमणिगणै	११	११५
तावकीनयशसैव	११	१०८	द्रुतमुद्धृते	५२	१२८
तुहिनमन्दतरां	२७	१२६	द्रुतसमेतदिनाधि	१४	१२५
तुहिनवाहि	२९	१२६	द्वारमध्यम	२८	१०९
तेन प्रपाद्वय	३२	१३५	द्विजेश्वरश्रीहृति	२३	११२
तेन व्यधायि	११	१३४	धात्र्या धर्तुं न	२	१०४
तेने कृतान्तसमतां	५	९६	धीमानास्ते	५६	१०६
तैस्तथा जिनेपुर	४१	१२०	धूमीभवद्यदसि	३४	९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
धूलिधूम्रपद	२५	११९	पवित्रमेतत्	४८	११२
धृता चिरं या	२९	१०२	पाणी संपुट्य	४१	१०५
न क्षमोऽयमहिता	२८	११९	पापपङ्कशमनाय	२०	११९
न तथा व्यराज	१४	१२२	पायं पायमहर्निशं	१	११४
ननर्त्त कश्चित्	३३	११३	पावयन्ति परिक्लृप्त	३९	१०९
नभसि दर्पण	१७	१२६	पिबन् पयः स्वः	९	१११
न भूभृतः केऽपि	६	१००	पुरा प्राग्वाटवंशाग्र	४५	१०६
न मे स्वामिन्	४२	१०५	पुरुषोत्तमो हृदि	६	१२१
न यद्यपि प्रौढ	५	१११	पुलककम्पित	३१	१२७
नयनाग्रवर्त्मनि	२३	१२३	पूजासु पाणिस्थित	२१	१०१
नयेन सद्वस्य	४४	११३	प्रकटितायस	२	१२५
नलिनादिपुष्प	२६	१२३	प्रज्वलन्मणि	६	१०४
नवपल्लवा निज	३९	१२७	प्रतापतापिता	२२	१०५
नववृक्षमूर्ध्नि	३८	१२७	प्रतिसर्गं प्रबन्धे	५	९९, १०४,
न स्थिराः क्वचन	३८	१०९			१०७, ११०, ११४,
नागेन्द्रगच्छ	४४	११०			११७, १२१, १२४,
नाप्नुवन्ति भव	३०	११९			१२८, १३३, १३६
नाम नाम सुधया	६	११८	प्रत्यर्थिपार्थिव	३२	९८
नित्यं त्वद्वदना	१	११७	प्रथमः प्रथितस्तेषां	५५	१०६
नित्यचैत्यकुतुका	७	१०७	प्रथमसमुदितेन्दु	१०	११५
निर्गत्य कोशकुहरा	३	९६	प्रवृत्तनृत्ताः	४५	११४
निर्मितस्तुति	३४	१२०	प्रसादसादर	३०	१०५
निर्यन् पयोमय	३६	९८	प्राग्नियोजित	७	११८
निशि नियत	२०	११६	प्रातस्तूर्यस्वने	३१	१०५
पश्चासराह	२	१३३	प्राप्य रत्नमिव	३२	१२०
पतितवति पतङ्गे	५	११५	प्रार्थितौ प्रार्थनीये	४०	१०५
पतितवति पयोधे	२६	११६	बभार भूभार	२४	१०१
पथिककानन	३२	१२७	बलिरपि कलि	१५	१३०
पदमकारि मुखे	२८	१२६	बहुत्पतत्पादयुग	३४	११३
पदमधत्त	२४	१२६	बान्धवस्य सुर	१४	१०८
पदेऽथ तस्याजनि	१	९९	बुद्धिरेव तव	९	१०७
परितः स्फुरित	१०	१०४	बुद्धिर्लतेव तव	२४	१३१
पर्वक्षणे न खलु	१४	९७	भट्टार्कपूजन	५	१३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
भवकाननान्तर	२१	१२२	यं सुदर्शनधरं	१८	१०८
भवभ्रमिश्रान्ततरः	३५	११३	यः सञ्चरन् बर्बर	३३	१०२
भवाभिभूतेन	१२	१११	यक्षमुख्य! स भवान्	१५	११८
भापितं भुवन	२९	११९	यच्छातकुम्भ	२४	१३५
भामण्डलप्रति	२३	१३५	यत्कवेर्लवण	४	१३३
भारं भुवो भुजभरेण	२९	९८	यत्कारितं सिद्धसरः	३५	१०२
भावनासलिल	१४	११८	यत्कीर्तिमेव	३८	९९
भासि दौस्थ्यतरु	३	१२१	यत्खड्गखण्डित	२	९६
भास्वन्निःस्वान	१२	१३०	यत्र क्षितिं रक्षति	२५	१०१
भुग्नानि भूमिधर	२२	९७	यत्र प्रतिक्षण	१७	९७
भुजगजंगति भूतिं	२८	११६	यत्रोच्चसौधभुवि	१८	९७
भुवनाधिपाति	२०	१२२	यदर्थमेत	१९	१२६
भुवनैकनाथ	२४	१२३	यदीयकारागृह	३४	१०२
भूरिधातुमय	२	११८	यद्दानमश्रावि	५०	१०३
भूरिपुष्परचिता	४०	१२०	यद्दानिदानमुदितेन	२६	९८
भृगोः सुतेनेव	४१	१०३	यद्वयप्रभव	१६	१०४
भृशमुरसि कलङ्क	१५	११५	यद्यम्बरे सुर	२५	१३५
भृशमुषसि तुषार	२७	११६	यद्रत्नवेश्मपरि	२३	९७
भ्रुवमारोपितां	२५	१०५	यमुनौघसङ्गम	४०	१२४
मञ्जुलः कनक	३	११८	यस्मिन् जनाय	२४	९७
मदभिवर्धित	२०	१२६	यस्मिन्नुपर्युपरि	१९	९७
मन्दाकिनी वियति	२१	९७	यस्मिन् विलास	१३	९७
मयाऽसौ विक्रम	१८	१०४	यस्मिन् सदैव	११	९७
मलयजद्रुम	११	१२५	यस्मिन् सदोच्चैः	४७	१०३
मसृणघुसृण	२९	११६	यस्य द्विषां कण्टक	३०	१०२
मलयजमयमम्भः	२	१२९	यस्यासिधेनुफलके	२८	९८
महानयं सज्जनो	२१	११२	या कीर्तिरस्य	१३	१३४
मात्यमात्यवर!	२	११४	यामवाप्य न	३३	१२०
माधुर्यधुर्य	२९	१३५	युग्मेन यस्यासिलता	२८	१०२
मूर्तित्रयं हरि	१९	१३४	युद्धमार्गेषु	२१	१०५
मूर्तीर्विधाप्य	१८	१३४	युधि व्यभासि	१७	१०४
मूर्तीस्तीर्थपते	४२	१३२	युधि स्वयं यः	४३	१०३
यं विलोक्यातुलं	२६	१०५	युवां नरेन्द्र	५९	१०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
युवाभ्यामेव	६०	१०६	विश्वं जगद् येन	३७	१०२
यैरजीयत	१६	१०८	विश्वं न स्यादनी	२	१३६
योग्यपात्रवरपात्र	१०	१०८	विश्वप्रभुः कुतुक	३५	९८
रचिताङ्गशौच	३०	१२३	विश्वेऽस्मिन्नरिसिंह	४	१३६
रजस्तदा विस्तृत	२२	११२	विषमलिमिष	७	११५
राजा कुमार	१३	१०४	विसर्पता सङ्घ	२४	११२
राजा दृग्भ्यां सुधा	३६	१०५	विहरच्चिकुर	११	१०४
रिपुभूमिशिरो	२७	१०५	वीक्ष्य यक्षमिह	१२	११८
रुद्धेऽपि यत्र	१६	९७	वीतरागमत	३३	१०९
लक्ष्मीर्मयाऽवग	१७	१३४	वृथैव वैद्यानन	४	१११
लावण्यसिंह	४	१२४	वैकक्षमाल्य	३५	१३२
लावण्यामृत	७	१०४	व्यथयति प्रथिता	१०	१२५
लीलावलुप्तद्विज	३८	१०२	शक्तः क वक्तु	३५	१३५
लोचनैस्तनुमता	२२	११९	शत्रुञ्जयाद्रि	१५	१३४
वक्रीकृते धनुषि	८	९६	शरीरभासैव	१३	१११
वदनाग्रभाग	३२	१२३	शस्त्रविस्तृतिपरः	२	१०७
वनवल्लयो गुरु	१२	१२२	शान्तिसूरिरथ	१७	१०८
वयमेव शस्त्र	३७	१२७	शुद्धसङ्घपति	३६	१२०
वस्तुपालसचिवेन्द्र	१	१०७	शैलमौलिगमनाय	१	११८
वस्तुपालसुकृता	४	१२९	शैलेऽस्मिन् पुरुहूत	३५	१२७
विकटं नयामि	२२	१२२	शैशवेऽपि मदमत्त	२०	१०८
विजित्य यः संयति	५	१००	शौर्यैर्वज्रधरस्य	१	१२०
वितन्वतः कास	१६	११२	श्रावकत्वममलं	३६	१०९
वितन्वाते विश्वा	१	११०	श्रावकाः प्रतिपदं	३५	१२०
वित्रस्यतो मालव	१८	१०१	श्रीकपर्दिनमिति	१६	११९
विधुमौलिमौलि	२	१२१	श्रीकर्णदेवोऽथ	२०	१०१
विभेद्य लोभेन	२०	११२	श्रीक्षेमराजनृपति	३३	९८
वियदमीमिल	१८	१२६	श्रीपादलिप्तपुर	२६	१३५
वियदहनि वितेने	१८	११६	श्रीभीमदेवोऽस्ति	४८	१०३
विरचय्य काऽपि	३२	१३२	श्रीभूभटो रिपुभटो	३९	९९
विरहशिखिसमीरः	१६	११६	श्रीमत् पुरं	९	९६
विलोकयन् कोऽपि	३६	११३	श्रीमन्त्रिमुख्य	१८	१३१
विश्राम्यन्तु	१	१३६	श्रीमन्त्रीश्वरवस्तु	३	११७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
श्रीमानखण्डपद	७	१३३	सतां पतिः सङ्घपति	७	१११
श्रीलता शुचितरेषु	३७	१०९	स तीर्थयात्रासु	१	१११
श्रीवस्तुपालप्रथित	४	११४	सत्यभ्रमेण कृतकानि	२५	९८
श्रीवस्तुपाल ! भव	२	१३३	सदर्पमर्प	१४	१०४
श्रीवस्तुपाल ! रण	३	१२९	सदा प्रसादोन्मुख	४	९९
श्रीवस्तुपालसचिव	२	१०४	सद्यो जिनक्रम	३५	११७
श्रीवस्तुपालसचिवे	४	११७	सन्ति सम्प्रति	२४	१०८
श्रीवस्तुपालस्य	४	१०७	सन्नं यन्न तदापि	३	१२९
श्रीवस्तुपालाभिध	३	१०४	सपादलक्षप्रभुणा	४५	१०३
श्रीविश्रामा	१६	१३०	समदमदन	१३	११५
श्रीवीरधवलतेज	११	१३०	सममसममयूखै	३४	११७
श्रीवेश्म विस्मय	१	९६	समीपसङ्केत	३०	११२
श्रीवैद्यनाथ	२३	१३५	समुच्छ्रिताभिः खलु	३	११४
श्रीसुव्रतं भृगु	२२	१३४	समुदिते मुदिते	२५	१२६
श्रीसोमनाथोऽपि	३६	१०२	समुद्भवद्भाव	३८	११३
श्रीसोमान्वयकुट्टिमो	२५	१३१	सम्पालयन्तो	२२	१०१
श्रीसोमान्वयवार्द्धि	१९	१३१	सम्पूर्णशक्तित्रय	४	१००
श्रीस्तम्भतीर्थे	३	१३३	सर्वतोमुखतपो	२५	१०९
श्रीस्तम्भनालय	३०	१३५	सर्वत्र सञ्चारिषु	१९	१०१
संग्रामसिंहकुयशो	३	१०७	सर्वथाऽप्यसति	५	१०७
संयमप्रभृतिभि	२३	१०८	सर्वेश्वरममुं	२३	१०५
सकलस्वकीय	४४	१२७	सलिलेन विश्व	५	१२१
सङ्कोचिताम्बुज	१५	९७	सवार्द्धिमुर्वीमपि	२७	१०२
सङ्गः सङ्गत	१७	१३०	स स्तम्भनाभिध	३१	१३५
सङ्घभर्तुरधि	४३	११०	सहस्रशीर्षोरग	१४	१११
सचिवः समं	१	१२१	सा काऽपि कोमल	१४	१३४
सचिवस्य दास	४३	१२४	सितांशुना कीर्ति	४२	१०३
सच्चक्रनन्दक	३	११०	सिद्धलोक इव	४१	११०
सजलजलद	२३	११६	सिन्धुराजविजयो	३	१३३
सञ्चरन् भुवि	१८	११९	सुतस्तस्याऽस्ति	२०	१०५
सततकुसुमिता	३४	१२७	सुमनसां त्वमसि	६	१२५
सततवितत	५१	१०३	सुवंशसंयोजित	४१	११३
सततान्तराल	४	१२१	सुव्यक्तभक्तिः	३	१००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लो०	पृ०		श्लो०	पृ०
सृजता स्रजं	४३	१२७	स्वयं स कस्मैचन	४९	११४
सृजन् जनः पूजन	२९	११२	स्वर्गं जिगीषु	७	१००
सेवकेषु दृढद्वेषि	५	१०४	स्वर्धेनुशाखिमणयः !	१	१०३
सोऽभ्युदञ्चय	३१	१०९	स्वस्ति श्रीदेवलोका	१	१२४
स्तब्धप्रकम्पित	६	९६	स्वस्थानप्रसृत	८	१३०
स्तुतगुणं कुतुकेन	९	१२५	स्वहृदः प्रमोद	३८	१२४
स्फुटघटितकलङ्को	२४	११६	स्वीयतादृशा	२४	११९
स्फुटमष्टकर्म	४२	१२४	हठाद्धरन्तं श्रिय	२०	१०२
स्फुरन्तः स्वप्रता	३५	१०५	हरगलगरलाभं	६	११५
स्फूर्जत्फेनावलि	३	१३६	हरहसितसितानि	४१	९९
स्मरनृपस्य	७	१२५	हरिणीदृशां	४९	१२८
स्मरशिखी तनु	४	१२५	हरिहरिति रथाङ्गा	२५	११६
स्मितसरोज	५	१२५	हारान्तपद्म	३	१०४
स्मेरल्कास्मीर	९	१३०	हिमभरस्य तपः	३०	१२६
स्वदिवसपरि	८	११५	हृद्वर्त्तिनः	८	१०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय विद्या भवन

अमृतं तु विद्या

बंबई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org